

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 3 अंक 4

अप्रैल-जून 2006

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

डॉ. लोकेशचन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

विषय-क्रम

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

आस्था भारती

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

अणु डाक : asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. संचार-माध्यम और नैतिकता <i>यशदेव शल्य</i>	7
2. समाज और साहित्य : सम्बन्धों के राग-विराग <i>रमेश देव</i>	17
3. भारतीय आख्यान-परम्परा : स्वरूप और प्रयोजन <i>राममूर्ति त्रिपाठी</i>	25
4. भारतीय सन्दर्भ में उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान <i>दिनेश मणि</i>	33
5. भारतीय पुलिस व्यवस्था : प्रबन्ध, कमी एवं सीमाएँ <i>एन. के. सिंह</i>	39
6. पुलिस, राजनीति और मानवाधिकार <i>के. एस. दिल्लीन</i>	53
7. शल्य जी का काव्य-विमर्श <i>मुकुन्द लाठ</i>	67
8. 'धर्म' और 'धर्म-संकट' के प्रत्ययों पर एक धीमान का काव्य-शास्त्र विनोद <i>रामेश्वर मिश्र 'पंकज'</i>	93
9. एक बौद्धिक का वानप्रस्थ <i>पुष्पपाल सिंह</i>	107

10. पाकिस्तानी उर्दू कथा-साहित्य में भारतीय देवी देवता रहमान मुसव्विर	111
11. भारतीय दर्शन का भावी स्वरूप सरोज कुमार वर्मा	115
12. पाठकीय प्रतिक्रिया	121

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

बढ़ती दूरियाँ, गहराती दरारें

आज सजग संवेदनशील भारतीयों के चिन्तित होने के कई कारण हैं। देश तथा समाज के विभिन्न वर्गों के बीच की दूरियाँ बढ़ी हैं; खाइयों चौड़ी हुई हैं। ऐसा न केवल विकास के परिप्रेक्ष्य में, सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में ही हुआ है; बल्कि संवेदन के स्तर पर भी हुआ है। परस्पर का सौहार्द घटा है; कटुता बढ़ी है। इसका एक बहुत बड़ा दुखद पक्ष यह भी है कि जिनसे आशा की जाती थी कि वे इन दूरियों को कम करेंगे, खाइयों को पाटेंगे; वे ही इन्हें बढ़ा और गहरी कर रहे हैं। ऐसा करना उनके निहित स्वार्थ का अंग बन गया है।

आजादी के बाद ही हमने पंच-वर्षीय योजनाएँ बनायीं, विकास के रास्ते पर चले। विकास हुआ भी, पर असन्तुलित हुआ, उसका लाभ सबको एक समान नहीं मिला। आज असन्तुलित विकास का परिदृश्य हम कई स्तरों पर देख सकते हैं; उसके कई आयाम हैं। आज भी हमारे अधिकांश गाँव विकास के स्तर पर वहीं हैं, जहाँ आजादी के समय थे। गाँवों से धन, जन, विद्या तीनों का ही पलायन हुआ है। ऐसा विकास के न होनेसड़कों, विद्यालयों, अस्पतालों तथा काम-काज के अवसर के अभाव तथा गाँवों में असुरक्षा बढ़ने के कारण ही हुआ है। हम गाँवों को शहर तो नहीं ही बना सके, शहरों की थोड़ी सी सुविधा तक अधिकांश गाँवों में पहुँचाने में असमर्थ रहे। परिणाम-स्वरूप, हमारे अधिकांश गाँव अपनी समस्त दरिद्रता एवं अशिक्षा के साथ हमारे शहरों/नगरों तक पहुँच गये। हमारे शहर ही नहीं दिल्ली तथा मुम्बई जैसे महानगर भी झुगगी झोपड़ियों से अट-पट गये। न गाँव गाँव रहे, और न शहर शहर।

आजादी के बाद उत्पादन पक्ष का ध्यान न रखकर लाखों पद बनाए गये; भारी-भरकम सरकारी तंत्र खड़े किए गये। बढ़े हुए सरकारी खर्च, फिजुल-खर्ची, भ्रष्टाचार, आदि के चलते मुद्रा-स्फीति, सरकारी कर्ज, जनता पर कर का बोझ आदि बढ़े; तो दूसरी तरफ कृषि की उपेक्षा एवं विकासा का लाभ न मिलने से अधिकांश कृषक तथा असंगठित मजदूर पीड़ित बने रहे। आज देश के विभिन्न हिस्सों में हजारों किसान आत्म-हत्या करने को बाध्य हैं। करोड़ों लोग भूखे रहकर या आधा पेट खाकर जीवनयापन करते हैं, कुपोषण तथा रोग का शिकार होकर मर जाते हैं। दूसरी तरफ दक्षिण कोरिया (21.3 प्रतिशत) के बाद भारत विश्व का दूसरा ऐसा देश है जिसमें करोड़पतियों (वस्तुतः मिलेनियर; जो दस लाख डालर/लगभग साढ़े चार करोड़ रुपये

या उससे अधिक का मालिक हो) की संख्या 19.3 प्रतिशत की दर से अत्यन्त तेजी से बढ़ रही है। आज विश्व के 87 लाख करोड़पतियों में 83 हजार भारत के हैं।

विकास की गलत नीतियों के चलते देश में क्षेत्रीय असन्तुलन बढ़ा है। ऐसी ही स्थिति विभिन्न राज्यों में भी बनी है। नागालैण्ड जैसे छोटे से राज्य तक में, जहाँ भारत सरकार हजारों करोड़ रुपये विकास के मद में खर्च करने को देती है, मोन, तुएनसांग, तथा फेक जिले अत्यन्त पिछड़ी अवस्था में पड़े हुए हैं। यही स्थिति जेलियांग क्षेत्र परेन की भी है।

जब राँची में भारी मशीन का कारखाना लगा था तो सरकार ने किसानों से कारखानों के लिए जमीन ली थी। किसानों ने मुआवजे के पैसे बाजार की चकाचौंध के आकर्षण में खर्च कर दिए। उनमें से अधिकांश आज किसान से रिक्सा-चालक बन गये हैं। नागालैण्ड के मोन जिले के तिजित गाँव में प्लाइ-वुड का कारखाना खुला। पैसे मिले; गाँववालों ने सबसे अधिक मूल्य की कारें, रंगीन टी.वी. आदि खरीदकर पैसे खर्च कर दिए। इस देश में इस तरह के ये इक्के-दुक्के उदाहरण नहीं हैं। आज लाखों लोग उल्लिखत अनुभवों से गुजरे हैं, दरिद्र होकर कष्ट पा रहे हैं। विस्थापितों को पैसा देना ही काफी नहीं है (वैसे भ्रष्ट सरकारी कर्मचारियों के चलते उन्हें पूरे पैसे मिल भी नहीं पाते) जीविका के वैकल्पिक साधन उपलब्ध कराकर तथा रहन-सहन के नये ढंग बताकर, उनके विस्थापन के दंश को कम किया जाना चाहिए। फिर इससे बड़े दुर्भाग्य की बात हमारे तथा इस देश के लिए क्या हो सकती है कि मेघा पाटकर जैसों को विस्थापितों के पुनर्वास के लिए आन्दोलन का सहारा लेने को बाध्य होना पड़ता है।

समस्याएँ और भी हैं। गाँवों में देश के सबसे गरीब वर्ग-मजदूरों एवं दो बीघे जमीन वाले सबसे गरीब किसानों को आपस में लड़वाया जा रहा है। राजनीतिक लाभ के लिए धार्मिक एवं जातीय विद्वेष फैलाने का लगातार प्रयत्न हो रहा है। जम्मू-कश्मीर, पूर्वोत्तर तथा अन्य राज्यों में भी आतंकवाद बढ़ रहा है। बांगलादेशी घुसपैठियों की संख्या दिन-दिन बढ़ती जा रही है। आज सबसे बड़ी दुखद बात यह है कि हम अपनी आन्तरिक तथा वाह्य सुरक्षा के खतरों के प्रति सचेत नहीं हैं। समाचार माध्यम तथा बौद्धिक वर्ग हमें दिग्भ्रमित करता रहता है। फिर हमारी समस्त समस्याओं के तार कहीं न कहीं हमारी अदूरदृष्टिपूर्ण राजनीतिसे भी जुड़े हैं। स्पष्टतः राजनीतिक संस्कृति में बदलाव के बिना अपनी समस्याओं से हमारा छुटकारा संभव नहीं। इसके लिए जन-जागरण ही एकमात्र रास्ता है।

ब्रज बिहारी कुमार

संचार-माध्यम और नैतिकता

यशदेव शल्य*

नैतिकता शब्द का गहरा अर्थ है, जिस अर्थ में प्रायः इसका प्रयोग हम नहीं करते। यह अर्थ है कर्म का वह तत्त्व जिसका साक्षात्कार कर्ता आवेगों, मोहों, संस्कारों तथा अहंकार आदि सब प्राकृतिक वृत्तियों से मुक्त होकर ही कर सकता है। चेतना की यह स्थिति अपनी पूर्णता में तो मनुष्य को प्रायः अनुपलब्ध ही रहती है, किन्तु उसका कुछ आभास मनुष्यमात्र को उपलब्ध रहता है। इसी से इन प्राकृतिक प्रवृत्तियों में घोर रूप से लिप्त व्यक्ति भी सद्-असद् का : अच्छे-बुरे का : भेद समझता है, उनकी विशेष पहचान में चाहे अधिकांशतः असमर्थ ही रहता हो। इस दृष्टि से मानव-व्यक्तियों को, और मानव-समाजों को भी निम्न, मध्यम, उत्तम और अत्युत्तम स्तरों में वर्गीकृत किया जा सकता है। साधारण व्यक्ति सामान्य रूप से निम्न और मध्यम स्तरों के ही मिलते हैं। संस्थात्मक रूप से भी वे इन दोनों स्तरों पर रहते हुए ही कार्य करते हैं, यद्यपि इस रूप में उनसे अपेक्षा उत्तम स्तर की होती है। वास्तव में मानव-समाज और उसकी अंगभूत सब संस्थाएँ, नैतिक सम्बन्धों की ही संरचनाएँ होती हैं, इनमें व्यक्ति नैतिक सम्बन्धों से ही पहचाना जाता हैमाता, पिता, पुत्र, भाई, बहन, राजा, प्रजा, स्वामी, भृत्य सब नैतिक सम्बन्धों के नाम हैं जो व्यक्ति को समाज के अंग के रूप में विशेषित करते हैं, किन्तु व्यक्ति अपनी चेतना के नैतिक स्तर के अनुसार निम्न, मध्यम, उत्तम और अत्युत्तम होता है। पुत्र के रूप में भगवान राम और श्रवण कुमार हमारे यहाँ आदर्श प्रस्तुत करते हैं, हम इस आदर्श से नीचे के स्तर बनाते हैं। कोई इस स्तर का भी हो सकता है और कोई इसके ठीक विपरीत पितृ-घाती भी हो सकता है।

अब हम संचार-माध्यमों (मीडिया) में नैतिकता की बात करने जा रहे हैं। इसका क्या अर्थ है? जैसा कि हमने ऊपर देखा, यह मूलतः नैतिक अस्तित्व का ही नाम है, जैसे ही जैसे पिता, पुत्र, राजा, और राज्य नैतिक अस्तित्वों के नाम हैं। किन्तु इन नामों को धारण करने वाले व्यक्ति-समुदाय इनके आदर्श-रूपों के किस सीमा तक

+ माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता विश्वविद्यालय, भोपाल में 3 मार्च, 2006 को इस विषय पर आयोजित व्याख्यान के अध्यक्ष पद से दिए गए भाषण का लेख-बद्ध रूप।

* डॉ. यशदेव शल्य, प्रख्यात दार्शनिक एवं 'उन्मीलन' के सम्पादक हैं। पता : पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015

अनुरूप या प्रतिरूप हैं यह उन व्यक्तियों या व्यक्ति-समुदायों की चेतना की प्रांजलता के स्तर पर निर्भर करता है। हम आज यहाँ जिस विषय पर विचार के लिए एकत्र हुए हैं वह हमारे देश के इतिहास के वर्तमानकाल में उपलब्ध संचार-माध्यमों का उपलब्ध रूप है। वह रूप कहाँ तक अपने आदर्श के अनुरूप है और कहाँ तक प्रतिरूप, हमारे लिए यह विचार्य है।

संचार-माध्यम सामान्यतः पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था और प्रजातन्त्रवादी राज्यव्यवस्था की उपज हैं। विश्व के जिन समाजों में ये व्यवस्थाएँ नहीं हैं उनमें ये प्रजातान्त्रिक देशों के अनुरूप में होते तो हैं किन्तु वहाँ ये पक्षाघात-ग्रस्त रूप में ही होते हैं। पूर्ण स्वस्थ रूप में ये प्रजातान्त्रिक समाजों में ही होते हैं। 'स्वास्थ्य' का अर्थ यहाँ केवल निर्बाधता, राज्य द्वारा आरोपित बाधाओं या अनुशासनों से स्वतन्त्रता है, कोई नैतिक या आध्यात्मिक अर्थ नहीं है। इस निर्बाधता-स्वतन्त्रता के कारण ये नैतिक-आध्यात्मिक रूप से अस्वस्थ भी हो सकते हैं, किन्तु वह अस्वास्थ्य इनका नैतिक-आध्यात्मिक अस्वास्थ्य ही कहा जाएगा, जैविक अस्वास्थ्य नहीं कहा जाएगा। क्योंकि राज्य से आदेशित अनुशासन से मुक्ति इनके अस्तित्व की : स्व की : मूल शर्त है। किन्तु तब नैतिकता की दृष्टि से यहाँ एक विचित्र विडम्बना की स्थिति बनती है। प्रजातन्त्रवाद जिस समाज-दर्शन का सहगामी, बल्कि कहें अनुगामी है उसकी नैतिकता की और समाज की अवधारणाएँ ही इनकी हमारे द्वारा ऊपर प्रतिपादित अवधारणाओं के ठीक विपरीत हैं। नैतिकता इनके अनुसार प्राकृतिक या पाशव-चेतना से उच्चतर चेतना द्वारा साक्षात्कृत तत्त्व नहीं है, बल्कि प्राकृतिक चेतना का ही एक रूप है। हमने ऊपर इस साक्षात्कार के लिए चेतना के उद्वेग, मोह, आसक्ति और संस्कार आदि प्राकृतिक वृत्तियों से ऊपर उठने को अनिवार्य कहा था, जबकि प्रजातन्त्रवादमूलक समाज-दर्शन के अनुसार नैतिकता केवल सामाजिक संस्कारों में रूढ़ आवेग मात्र है। 'अच्छा' और 'बुरा' इस समाज-दर्शन के अनुसार समाज द्वारा दी गई धारणाओं के वाचक पद हैं और समाज स्वार्थ-प्रेरित व्यक्तियों का स्वार्थमूलक समझौतों के आधार पर प्रतिष्ठित समुदाय। इस प्रकार प्रजातन्त्रवाद उस समाज की राज्य-व्यवस्था ही नहीं है जो समाज उस नैतिकता पर आधारित है जिसे पहले लोग 'नैतिकता' समझते रहे हैं। यह कानून का राज्य है, यह सबके द्वारा सबके लिए स्थापित राज्य है, यह मानवाधिकारों के लिए सजग राज्य है सब ठीक, किन्तु उन व्यक्तियों द्वारा स्थापित राज्य जो अपने हित के लिए दूसरों के हित का ध्यान रखते हैं, जिनके लिए कानून अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए पारस्परिक स्वार्थ-रक्षा की व्यवस्था है। *संचार-माध्यम इस समाज के उपयोग के लिए और व्यक्तियों द्वारा राज्याधिकारियों पर निगरानी के लिए* स्थापित संस्था है। इस संस्था के लिए नैतिकता का अर्थ इस प्रकार की निगरानी ईमानदारी से करना है। किन्तु इसके लिए ईमानदारी का अर्थ निस्स्वार्थ-भाव से पर-हिताय कर्म करना नहीं है बल्कि अपने स्वार्थ के अभिवर्धन के लिए अपनी विश्वसनीयता को स्थापित करना है। किन्तु इस प्रकार की नैतिकता का भी निर्वाह व्यक्ति कैसे करते हैं, यह व्यक्तियों की

नैतिक चेतना पर निर्भर करता है, क्योंकि इस प्रकार की नैतिकता का निर्वाह डाकू-समुदाय में भी अपेक्षित होता है। मनुष्य में नैतिकता के पूर्वोक्त आध्यात्मिक अर्थ में भी नैतिक चेतना सहज होती है, जिस प्रकार उसमें स्वार्थपरायणता सहज होती है। इन दो ध्रुवों के बीच विभिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से दोलायमान होते हैं। साधारण रूप से व्यक्ति स्वार्थों से ही परिचालित होते हैं किन्तु वे अन्य व्यक्तियों के सम्मुख या सामाजिक रूप से अपने को नैतिक रूप से ही प्रस्तुत करते हैं। यही बात संचार-माध्यम-कर्मियों के लिए भी सत्य है। इस सबके बीच एक और घटक होता है जो व्यक्तियों और संस्थाओं के कर्मों को निर्धारित करता है। वह होता है किसी समाज का सामान्य नैतिक स्तर। किसी समाज की कोई संस्था अपने समाज के सामान्य नैतिक स्तर से अलग नहीं हो सकती। यह संचार-माध्यमों के लिए भी सही है। अब, प्रथमतः तो आज उस समाज की अवधारणा ही नैतिक नहीं रही, जैसाकि हमने पीछे देखा। जो सब संस्थाओं की मूल है, उससे आगे भारतीय समाज का नैतिक स्तर है जो स्वतन्त्रता के बाद क्रमशः नीचे गिरा है। उदाहरणतः, स्वतन्त्रता के पहले राजनीति देश-भक्ति की पर्याय थी और गाँधी जी के प्रभाव में सत्य और अहिंसा इसके मूल मन्त्र थे और स्वतन्त्रता के बाद राजनीति क्रमशः स्वार्थ और अवसरवादिता की पर्याय हो गई है। तब संचार-माध्यम, जो राजनीति से निकट रूप से सम्बद्ध हैं, इन प्रवृत्तियों से कैसे मुक्त हो सकते हैं? अब, सर्वप्रथम तो आज विश्व स्तर पर ही नैतिकता एक अवान्तर बात हो गई है उदाहरणतः डाक्टरी, पत्रकारिता और अध्यापन भी व्यवसाय हो गए हैं, जैसे दुकानदारी है, शिक्षा में मनुष्य संसाधन रूप में कल्पित हो रहा है, विचार-गोष्ठियाँ 'वर्कशॉप' हो गई हैं, पिता, माता, पुत्र इन सम्बन्धों का आधार स्वार्थ-रक्षा का उपाय हो गया है। ये सब मानव-जीवन की हमारी कल्पना के निर्धारक हैं। 'मैन इज दि मैयर ऑफ एव्रीथिंग' और 'पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा-सा परागतिः' दोनों कथन प्रकटतः एक जैसे दिखते हैं किन्तु ये आधारतः भिन्न हैं। प्रथम का अर्थ मनुष्य को प्रकृति के दोहन का अधिकार देना है और दूसरे का अर्थ 'का जाने कछु पुन्न प्रकटे, मानुषा अवतार' है। ऐसे समय में संचार-माध्यम नैतिकता के वाहक कैसे हो सकते हैं?

संचार-माध्यमों को मुख्यतः राज्य के और सामान्य रूप से समाज के दैनंदिन कार्य-व्यापार के आकलन प्रस्तुत करने वाली संस्था कहा जा सकता है। 'आकलन प्रस्तुत करने' में, जिसे समाचार कहा जाता है, यथातथ्यता, परिप्रेक्ष्यता और मूल्य-दृष्टि की अपेक्षा रहती है। ये तीनों पक्ष मिलकर तथ्यों के चयन उनके अर्थ के ग्रहण और उनके प्रस्तुतीकरण के रूप और प्रकार को निर्धारित करते हैं। इसे कुछ उदाहरणों से समझना सहायक होगा

(1) कुछ दिन पहले दिल्ली में कुछ बम-विस्फोट हुए। सब दूरदर्शन-प्रसारणों में यह मुख्य समाचार था, यह स्वाभाविक था। किन्तु सारा दिन वही एक समाचार देने

को हो, उसे ही तरह-तरह से प्रस्तुत किया जाए, यह युक्ति-संगत नहीं लगता, इसमें अतिशयोक्ति का, लोमहर्षकता लाने की प्रवृत्ति का आ जाना स्वाभाविक है।

(2) सरकार ने बम्बई के डॉसबार घरों को बन्द करने का निर्णय किया। यह समाचार दिया जाए, यह अपेक्षित है, किन्तु इसके साथ बारों में नाचती लड़कियाँ भी दिखाई जाए, यह न केवल आवश्यक नहीं है बल्कि अवांछनीय भी है। सरकार ने उन बारों को बन्द करने का निर्णय ही उनकी अवांछनीयता के कारण लिया, तब उनमें नाचती लड़कियों को दिखाना स्वतः ही अवांछनीय हो जाता है। उनको नाचते दिखाना कोई समाचार का अंग नहीं है। किन्तु वे चित्र बार-बार दिखाए गए क्योंकि वे चित्र समाचार को आकर्षक बनाते हैं। वह आकर्षकता अवांछनीय हैइससे किसी को कोई अन्तर नहीं पड़ता।

(3) एक दिन 'हिन्दू' समाचार पत्र में मुख्य पृष्ठ पर एक समाचार के साथ अभिनेता सलमान खॉं का चित्र छपा। वह समाचार किसी विकलांग लड़की को लेकर था उसमें उस लड़की की कुछ बातों के उल्लेख के साथ एक बात यह थी कि उसे अभिनेताओं में सलमान खॉं सबसे ज्यादा पसन्द है। उसकी इस बात पर सलमान खॉं का फोटो दिया गया था और इसी कारण वह समाचार दिया गया था और वह भी मुख्यपृष्ठ पर। वह समाचार सच होगा, किन्तु यह कैसा सच है? क्या इस सच को अनैतिक नहीं कहा जाएगा कि इसे देने के पीछे प्रेरणा किसी भी औचित्य के विपरीत है? इसके विपरीत, किसी लेखक को पुरस्कार मिलता है तो या तो उसकी कोई सूचना ही समाचार-पत्रों और दूसरे संचार-माध्यमों में नहीं रहती, रहती है तो ऐसे स्थान पर और इतनी छोटी जैसे देनी पड़ रही हो, जबकि होना यह चाहिए कि उसे प्रमुख और बड़ा स्थान दिया जाए और उस लेखक तथा उसकी पुरस्कृत कृति के सम्बन्ध में कुछ जानकारी उसमें रहे। यह परिप्रेक्ष्य और मूल्य की बात है। समाचार पत्रों और अन्य संचार-माध्यमों के लिए राजनेता, अभिनेता और खिलाड़ी ये ही एकमात्र महत्त्वपूर्ण हैं। 20 मार्च, 2006 के हिन्दू में एक समाचार है, और पर्याप्त प्रमुखता के साथ दिया हुआ है कि लखनऊ की किसी स्त्री के पुत्र की दुर्घटना में कुछ समय पहले मृत्यु हो गई थी और उसके रूप की अनुरूपता उसे सौरभ गांगुली के रूप में दिखाई दी। सौरभ गांगुली 19 मार्च को किसी कार्यवश जब लखनऊ गया तो वह स्त्री उससे मिलने गई और मिलकर धन्य हुई। अब, आप बताएँ कि इस जाकारी में किसी के लिए क्या ज्ञातव्य है? इससे केवल हिन्दू के संवाददाता और सम्पादक के बौद्धिक स्तर और मूल्य-दृष्टि का पता चलता है। ये उदाहरण उस समाचार-पत्र से दिए गए हैं जो समाचार-पत्रों में सबसे अधिक समादृत है।

आप कहेंगे कि इसमें नैतिकता-अनैतिकता की क्या बात है? इसमें नैतिकता के प्रचलित अर्थ में कुछ अनैतिकता नहीं है, किन्तु अनौचित्य है, और इसमें निहित प्रयोजन पर थोड़ा गहराई से जाएँ तो उसे अनैतिक भी कह सकते हैं। औचित्य की दृष्टि से इन समाचारों में सामाजिक या सांस्कृतिक, राजनैतिक या सामरिक महत्त्व की

ऐसी कोई बात नहीं है जिसकी जानकारी पाठकों को मिलनी चाहिए, जिनकी जानकारी देना समाचार-पत्रों का कार्य होना चाहिए। ये समाचार समाज में व्याप्त घटिया, या कहें विपर्यस्त मूल्य-दृष्टि को बढ़ावा देने वाले हैं। आप कह सकते हैं कि संचार-माध्यम समाज में व्याप्त मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है, वह पाठकों को वह बताता है जो वे जानना चाहते हैं। किन्तु एक तो यह बात ठीक-ठीक ऐसी नहीं है। समाज में प्रमुखता निश्चय ही निकृष्टतर प्रवृत्तियों की ही होती है, लोग सामान्यतः कामुक, लोलुप और लम्पट ही होते हैं, किन्तु ऐसे व्यक्तिगत रूप से ही होते हैं, सामाजिक रूप से नहीं, इसी से कोई व्यक्ति अपनी माता, पत्नी, बहन, पुत्री, पिता भाई या पुत्र आदि को इन रूपों में देखना नहीं चाहेगा। इसलिए संचार-माध्यम एक सामाजिक संस्था के रूप में इस तर्क से नहीं चल सकते कि लोग इसी प्रकार की सामग्री को पसन्द करते हैं, इस तर्क से वे केवल एक व्यवसाय, एक उद्योग की दृष्टि से ही चल सकते हैंकि हमें तो जिस किसी भी प्रकार से अपनी ग्राहकी बढ़ानी है। यदि संचार-माध्यम इस तर्क से चलेंगे तो इनको लेकर नैतिकता की बात निरर्थक हो जाएगी। किन्तु आज हो यही रहा है। स्थिति यह है कि इसके लिए तर्क भी गढ़ लिए गए हैं। यदि कोई फिल्मों या दूरदर्शन में भोण्डी कामुकता के प्रदर्शन के विरुद्ध कुछ कहता है तो ये समाचार-पत्र उसे कठमुल्लापन, सांस्कृतिक पहरेदारी आदि कह कर निन्दा करते हैं, मानो नंगापन और भोण्डापन दृष्टि की उदारता और प्रगतिशीलता के द्योतक हों। इधर तो फिल्मों में सम्भोग के खुले दृश्य भी खूब बढ़ा-चढ़ा कर दिखाए जाने लगे हैं और संचार-माध्यमों को यह सब एकदम ठीक लगता है। यहाँ तक कि पीछे सुषमा स्वराज ने संचार-मन्त्री के रूप में इस नंगेपन पर प्रतिबन्ध लगाने की बात की तो कुछ समाचार-पत्रों ने इसे उनकी नैतिक पहरेदारी कह कर निन्दा की। किन्तु यह नैतिक बहादुरी क्या रूप ले रही है इसका एक उदाहरण देना आवश्यक होगा। इधर पीछे **परिणीता** पिक्चर आई। उसमें दो बार सम्भोग के खुले दृश्य दिखाए गए हैं। वह देखकर मैं दंग रह गया, क्योंकि मुझे लगा कि शरच्चन्द्र अपने उपन्यास में सम्भोग की बात नहीं कर सकते। तब मैंने वह उपन्यास पढ़ा और पाया कि मेरा अनुमान ठीक था। शरच्चन्द्र ने अपने उपन्यास में सम्भोग की कोई बात नहीं की थी, जबकि यदि उपन्यास में उसका उल्लेख होता भी तो पिक्चर में उसके उस प्रकार प्रदर्शन का कोई औचित्य नहीं था, उसे केवल संकेत से बताना चाहिए था। यदि किसी उपन्यास में किसी को दस्त लगने का उल्लेख हो तो कोई पिक्चर बनाने वाला अपने नायक को शौचालय में शौच करते नहीं दिखाएगा। किन्तु जहाँ तक मेरी जानकारी है, किसी समीक्षक ने या मीडिया ने इस बात पर पिक्चर की कोई आलोचना नहीं की। इस पिक्चर की प्रशंसा ही की गई। आप इसे जीवन का सत्य, समाज का सत्य, या मानव-मन का गुहागत सत्य जो भी कह सकते हैं, वैद्युत् माध्यम ही नहीं समाचार-पत्र भी अभिनेत्रियों के उत्तेजक चित्रों के द्वारा इस 'सत्य' का प्रकाशन और संवर्द्धन ही कर रहे हैं। निश्चय ही सामान्य जन की रुचियाँ और अभिवृत्तियाँ काम और अर्थ की

ओर ही प्रवृत्त होती हैं किन्तु एक सामाजिक वातावरण भी होता है जो उसके सामने उच्चतर मूल्यों को भी रखता है। पहले दादी बच्चों को जो कहानियाँ सुनाती थी, जो मन्दिर में वह पौराणिक कथाएँ सुनते थे, जो पुस्तकों में पढ़ते थे, उससे एक सांस्कृतिक वातावरण बनता था। संचार-माध्यमों से वह वातावरण आन्दोलित होता, उद्वेलित होता, यह आवश्यक नहीं था। आज जिस प्रकार राजनेता, अभिनेता और खिलाड़ी, जो कि चेतना के निम्नतर स्तरों का प्रतिनिधित्व करते हैं, संचार-माध्यमों के कारण जन-चेतना के लिए केन्द्रीय महत्त्व के हो गए हैं, यह समाज के लिए स्वास्थ्यकर बात नहीं कही जा सकती। राजा पहले भी होते थे और अभिनेता भी होते थे, किन्तु ये कोई बहुत आदर के पात्र नहीं थे, क्योंकि ये आदर के योग्य होते ही नहीं, आदर के पात्र कवि, विद्वान्, दार्शनिक और सन्त होते थे। इस तरह आज संचार-माध्यमों के कारण जो हो रहा है उसे मूल्य-विपर्यास ही कहा जा सकता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि संचार-माध्यमों का योगदान केवल नकारात्मक ही है। राजनीति और प्रशासन के क्षेत्रों में इसका योगदान सकारात्मक भी है। इसके कारण जनता में अधिकारों का बोध और राजनेताओं और प्रशासकों में कर्तव्यों से विमुख होने में भय बनता है। इसी प्रकार, इससे सामाजिक कुरीतियों और अपराध समाज के सामने आते हैं तो उनके विरुद्ध एक जन-मत बनता है, वैद्युत् माध्यम, विशेषतः दूरदर्शन के द्वारा यह कार्य बहुत अधिक प्रभावशाली ढंग से हो रहा है। यह कार्य ये माध्यम कोई जनहित के विचार से ही कर रहे हों, ऐसी बात नहीं है। यह ये आत्म-प्रचार के उद्देश्य से ही अधिकांशतः करते हैं, किन्तु इनका यह स्वार्थ परार्थ के अनुकूल सिद्ध होता है।

संचार-माध्यमों के सम्बन्ध में आधारभूत बात यह है कि यह प्रजातन्त्रवादी शासन-व्यवस्था के एक अंग के रूप में विकसित हुआ है। इसका मुख्य कार्य राजनैतिक-प्रशासकीय परिदृश्य को प्रदर्शित करना और उसकी आलोचना-विवेचना करना है। राजनैतिक आलोचक के रूप में हमारे संचार-माध्यम काफी जागरूक हैं, यह कहा जा सकता है। उदाहरणतः, अभी पीछे सोनिया गाँधी ने जब संसद् सदस्यता से त्यागपत्र दिया तब एक समाचार चैनल ने उसे 'त्याग का तीर' कहा, एक समाचार-पत्र ने इसे 'त्याग का तुरुप' कहा। सामान्य रूप से सारे संचार-माध्यमों की यही दृष्टि थी, जबकि कांग्रेस इसे महान् त्याग के रूप में प्रस्तुत कर रही थी। मीडिया उसे भी छाती पीटने के पागलपन या अपनी डूबती नैया को बचाने की चाल के रूप में प्रस्तुत कर रहा था। यही यह प्रायः सभी राजनेताओं के त्याग-तपस्या के प्रदर्शनों के साथ करता है; यह उन्हें त्याग-तपस्या के कृत्य न कहकर त्याग-तपस्या के नाटक के रूप में ही प्रस्तुत करता है।

किन्तु इससे नैतिकता के सम्बन्ध में बड़ा महत्त्वपूर्ण संकेत मिलता है। सामान्यजन का, बल्कि कुछ अपवादों को छोड़कर सभी का जीवन प्रायः नैतिक

भावनाओं या दृष्टि से प्रेरित होकर नहीं चलता, वह अपने स्वार्थों से प्रेरित होकर ही चलता है, किन्तु अन्यों को सब नैतिकता के तर्क से ही तोलते हैं और अन्यों के सामने अपने को भी वे उसी तर्क के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसका कारण यह है कि मानव समाज एक नैतिक अवयवी है, व्यक्ति जिसमें नैतिक अवयव के रूप में ही देखा जाता है। जैसाकि हमने पीछे देखा, सामाजिक व्यक्ति पिता, पुत्र, पति, पत्नी, नागरिक, नेता, अधिकारी, कर्मचारी आदि होता है। ये सब सामाजिक सम्बन्धों के नाम हैं और व्यक्ति के नैतिक कर्तव्यों को निर्धारित करते हैं। व्यक्ति इन कर्तव्यों की मर्यादा में थोड़ा-बहुत चलता भी है, किन्तु भीतर से वह अपनी प्रवृत्तियों से ही चलता है, कर्तव्यों को कर्तव्यों के रूप में हम दूसरों की दृष्टि में रख कर ही करते हैं। पुत्र का अर्थ है कि वह पिता के प्रति नैतिक रूप से उत्तरदायी है। इस उत्तरदायित्व की कोई सीमा नहीं है। रामायण को हम जानते ही हैं। श्रवण की कथा भी जानते हैं। यह कर्तव्य की पराकाष्ठा है। किन्तु हम अधिकांश में पुत्र के रूप में न्यूनतम कर्तव्यों का भी ध्यान नहीं रख पाते हैं और ऐसा नहीं कर पाने पर उसके लिए युक्ति रखते हैं, दूसरों के सामने तो उस युक्ति के साथ ही प्रस्तुत होते हैं। अधिकांश में कर्तव्यों के इन आदर्शों को अपने से परे की चीज ही मानते हैं और दूसरों के सामने युक्ति देते हुए इन मर्यादाओं का एक नीचा स्तर ही मानकर चलते हैं। इसे नैतिकता कहने के बजाय व्यवहार कहना चाहिए। समाज इस व्यावहारिक नैतिकता से ही चलता है।

पश्चिम के कुछ समाज-दार्शनिकों ने समाज को इस व्यवहार से ही परिभाषित किया है। उनके अनुसार समाज व्यक्तियों में पारस्परिक लेन-देन के नियमों की व्यवस्था है। इसके अनुसार पुत्र का पिता के प्रति उतना ही कर्तव्य है जितना पिता का पुत्र के प्रति। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे का ध्यान रखकर चलते हैं तो समाज चलता है, नहीं रखते हैं तो समाज नहीं चलता। समाज चलना व्यक्ति के हित में है, उसका स्वार्थ है। इन सम्बन्धों में नैतिकता नाम का कोई अतिरिक्त गुण नहीं होता। प्रजातन्त्रवाद समाज विषयक इसी सिद्धान्त के आधार पर स्थापित राज्य व्यवस्था है। यद्यपि इसकी परिभाषा 'जनता के द्वारा जनता के लिए स्थापित राज्य' है किन्तु यह जनता स्वार्थ-सेवी व्यक्तियों के स्वार्थों के पारस्परिक सन्तुलन के आधार पर एकत्र समूह है। इसमें एक दल, या कई दल मिलकर राज्य हथियाते हैं और दूसरे दल इस सरकार को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु ये इस नियम को मानकर चलते हैं कि चुनाव ईमानदारी से लड़े जाएँगे और चुनावों में जो जीतेगा वही सरकार बनाएगा। अब यहाँ पुनः बड़ी रोचक स्थिति बनती है। चुनाव लड़ने वाले परस्पर के सम्बन्ध में यह मानकर चलते हैं कि दूसरा बेईमानी करेगा, इसलिए ईमानदारी के लिए एक-दूसरी अधिकार-सम्पन्न व्यवस्था बनाई जाती है चुनाव-आयोग। अब, जबकि किसी का स्वयं के लिए ईमानदारी में कोई विश्वास नहीं होता, वह इस संस्था का अनुशासन मानकर चलता है, क्योंकि यह संस्था दूसरे की बेईमानी रोकने के लिए आवश्यक है। यही समाज-तन्त्र और शासन-तन्त्र है जिसमें आज हम रह रहे हैं।

संचार-माध्यम इसी का भाग हैं। ये उन शासकों के आचरणों पर निगरानी रखने का कार्य करते हैं जो सहजतः स्वार्थी हैं कि ये अपने स्वार्थ के अनुसरण में दूसरों के स्वार्थी के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करें। इस माध्यम को भी चुनाव-आयोग जैसी संस्था ही कह सकते हैं इस अन्तर के साथ कि चुनाव-आयोग के समान न इसके कोई अधिकार होते हैं और न इसके निश्चित कर्तव्य होते हैं। किन्तु इसीलिए इससे आत्म-नियमन, आत्मानुशासन की अपेक्षा की जाती है। किन्तु इस अपेक्षा की पूर्ति भी इसके अपने स्वार्थ के लिए है। यह यदि अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करेगा सत्य-परायण और सम्यक् दृष्टि-युक्त नहीं होगा, तो इसकी बात कौन सुनेगा? इसका मूल्य तो तभी है यदि इसकी बात पर सब विश्वास करें। इसलिए इस माध्यम को विश्वसनीयता का बाना बनाना पड़ता है, जैसे व्यक्तियों को सफल झूठ बोलने के लिए सच्चाई का बाना बनाना पड़ता है। मीडिया का पहला स्वार्थ अपनी ग्राहकी बढ़ाने में, या प्रभावशाली होने में ही होता है, इस स्वार्थ की सिद्धि वह सच्चा और सुजान दिखकर ही कर सकता है। किन्तु इसके साथ और इससे पहले इसे ग्राहकों की रुचि का ध्यान रखना होता है। ऊपर हमने हिन्दू अखबार के दो उदाहरण दिए। इससे आगे दूसरे अखबार जाते हैं और अभिनेत्रियों के उत्तेजक चित्र छापते हैं, ऐश्वर्य राय का प्रेम-प्रसंग समाचार-पत्रों के लिए बहुत बड़ा समाचार है और उसके साथ उसका चित्र तो दिया जाएगा ही। इसी प्रकार अमिताभ बच्चन के समाचार हैं। जैसे ये बड़ी ज्ञातव्य बातें हों।

आज हम इस नैतिक परिवेश में रह रहे हैं। किन्तु इस परिवेश का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। नैतिकता शील, मैत्री, करुणा, निष्कामता, निरुद्विग्नता, हानि पहुँचाने वाले के प्रति भी प्रेम तथा सत्यपरायणता आदि में है, जो सब भाव इस परिवेश से बाहर के हैं। मीडिया इसी परिवेश की संस्था है।

यहाँ कहा जा सकता है कि लोक-व्यवहार भी नैतिकता को आधार बनाकर ही चल सकता है, उसके बिना नहीं चल सकता। लोक-व्यवहार व्यवहार करने वाले मनुष्यों के नैतिक स्तर के अनुसार उत्कृष्ट या निकृष्ट होता है। उदाहरणतः भारत में प्रजातन्त्रवाद का निर्वाह हो रहा है, दूसरे बहुत से देश इसका निर्वाह नहीं कर पाए। यह यहाँ के साधारण जन-समुदाय के साधारण नैतिक स्तर के उत्कृष्टतर होने का द्योतक कहा जा सकता है। यद्यपि प्रजातन्त्रवादी शासन-प्रणाली अपने आप में कोई नैतिक शासन-प्रणाली नहीं है, दूसरी शासन-प्रणालियाँ भी नैतिक आधार पर प्रतिष्ठित हो सकती हैं। राम-राज्य एक राजा के अधीन पूर्णतः नैतिक राज्य की कल्पना है, अशोक ऐसे राज्य का ऐतिहासिक उदाहरण है। और राजा भी ऐसे रहे हैं। प्लेटो ने प्रजातन्त्रवाद को सिद्धान्ततः ही नैतिक रूप से निकृष्ट राज्य मानते हुए नैतिक रूप से उत्कृष्टतर वैकल्पिक व्यवस्था का सिद्धान्त दिया था¹, चाणक्य के अर्थशास्त्र में भी एक राजा के अधीन नैतिक राज्य का सिद्धान्त प्रतिपादित है, कार्ल मार्क्स ने भी

प्रजातान्त्रिक राज्यव्यवस्था को नैतिक रूप से अन्यायपूर्ण व्यवस्था मानते हुए साम्यवादी राज्य की व्यवस्था का सिद्धान्त दिया था, किन्तु आज जैसी परिस्थिति है सिद्धान्त से अलग व्यवहार में उसमें कहा जा सकता है कि अधिकांश देशों में प्रजातान्त्रिक शासन-प्रणाली की अविद्यमानता उन समाजों की नैतिक असफलता के कारण ही है।

जैसाकि हमने पीछे कहा, मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक अस्तित्व को मूलतः नैतिक अस्तित्व ही कहा जा सकता है। खान खोदने वाले दो मजदूरों या ट्रक के दो ड्राइवरों में भी उनमें अन्य भेदों के अतिरिक्त उनके नैतिक स्तर का भेद होता है। कहा जा सकता है कि वही उन्हें मानव-व्यक्ति के रूप में परिभाषित करता है। अरस्तू ने मनुष्य को रीजन से परिभाषित किया है। वह रीजन यदि सदसद् विवेक का पर्याय नहीं है तो यह परिभाषा दोषपूर्ण है, सुकरात ने रीजन को इसी अर्थ में लिया है। मनु ने इसके लिए अधिक स्पष्ट शब्द 'धर्म' का प्रयोग किया है, जिसमें केवल बुद्धि ही नहीं, सारा व्यक्तित्व आ जाता है। सो, मनु के अनुसार मनुष्य धर्म से परिभाषित होता है। किन्तु यह मनुष्य में आदर्श के रूप में ही रहता है, जिसका बोध उसे रहता है किसी में कम, किसी में अधिक। इसी प्रकार लोक-व्यवहार भी चलता है। यही बात समाजों के लिए भी कही जा सकती है। कुछ समाज नैतिक रूप से निकृष्टतर होते हैं और कुछ कम निकृष्ट, कोई कभी थोड़े उत्कृष्ट भी हो सकते हैं। मीडिया समाज का अंग होने से वह भी वैसा ही होता है। इसका कार्य समाज की पहरेदारी होने से यह सहज में समाज को उसके दोषों के प्रति चौकन्ना करता रहता है। यह इसका कार्य है और यह नैतिक कार्य है। समाज की सभी संस्थाओं के कार्य ऐसे नैतिक कार्य ही होते हैं। पीछे हमने पिता, माता, भाई, बहन आदि की बात की थी, ऐसे ही पुलिस, राज्याधिकारी, राजनेता ये सब सामाजिक संस्थाओं के नैतिक नाम हैं, किन्तु इन संस्थओं के धारक व्यक्ति कहाँ तक नैतिक ही पाते हैं पिता कहाँ तक पिता, सिपाही कहाँ तक सिपाही हो पाता है यह उन व्यक्तियों पर निर्भर करता है और अन्ततः समाज के नैतिक स्तर पर निर्भर करता है। हम सबको नैतिक होना चाहिए पिता के रूप में, पुत्र के रूप में सिपाही के रूप में, पत्रकार के रूप में अन्ततः मनुष्य के रूप में, यह कोई कहने की बात नहीं है। यही संचार-माध्यमों के लिए भी सही है। किन्तु वे कहाँ तक ऐसे हो पाते हैं, यह दूसरी बात है। जैसा कि हमने ऊपर देखा, बड़ी कठिनाई यह है कि इस समय हमारी नैतिकता की अवधारणा ही दिशा-भ्रष्ट है, जिस कारण आशा के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहता और व्यवहार नियन्त्रण से बाहर हो रहा है, यह एक अतिरिक्त चिन्ता की बात है।

सन्दर्भ

1. द्रष्टव्य : प्रजातन्त्रवाद पर हमारे तीन लेख **समसामयिक चिन्ताएँ** पुस्तक में; प्रकाशक-राका प्रकाशन इलाहाबाद, 2005.

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080
☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office
**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

समाज और साहित्य : सम्बन्धों के राग-विराग

रमेश दवे*

समाज मात्र एक भाषायी शब्द नहीं है। समाज अपने अर्थ में मनुष्यों के समूह या समुदाय तक भी सीमित नहीं है। समाज शब्द में निहित है व्यापक चेतना, सामूहिक संवेदनशीलता और सामूहिक उत्तरदायित्व का बोध। इसलिए समाज एक क्रियाशील मानवीय संगठन है। हमारे देश में समाज की ऐसी व्यापक अवधारणा जातिगत समूहों में देखी गई। इसीलिए जातियाँ और वर्ण ही समाज कहलाए। आधुनिकता के साथ जब हमारे चिन्तन में समाज शब्द अपने व्यापक अर्थबोध और मानवीय संरचना के साथ प्रविष्ट हुआ, तो हमारे जातिगत सीमित बोध बदले तो अवश्य, लेकिन न जातियाँ छूटीं, न जातिगत भेदभाव और न जातिगत संस्कार और आचरण। जातियों से कुछ बड़े स्तर पर अगर विचार हुआ भी तो समाज का अर्थ भारतीयता के सन्दर्भ में हिन्दू समाज, मुस्लिम समाज, बौद्ध समाज और सिख-समाज आदि हो गया। जातियों को जोड़कर जब समाज को देखा गया, तो आदिम या आदिवासी समाज, हरिजन या पिछड़ा समाज और कानूनी भाषा में अनुसूचित जनजाति और अनुसूचित जाति वर्ग जैसे शब्द पैदा हो गए। इस तरह समाज भारत में एक जातिसूचक या क्षेत्र-सूचक संज्ञा बन गया और क्षेत्र के आधार पर दक्षिण भारतीय समाज, महाराष्ट्र समाज, गुजराती समाज जैसे क्षेत्रवादी सामाजिक अर्थ बनने लगे।

आधुनिकता के साथ-साथ जो लोग चिन्तन करने लगेविशेषकर बुद्धिजीवी या सामाजिक कार्यकर्ता, उन्होंने धीरे-धीरे जाति शब्द को त्यागना शुरू किया और समाज शब्द को जाति का एक पर्यायवाची बना दिया। समाज शब्द इतना प्रचलित हो उठा कि हमारे अपने जीवन की सामूहिक पहचान के शब्द-समुदाय, समूह, कबीला, वर्ग या वर्ण आदि तिरोहित होने लगे। अब यदि किसी भी जाति का कोई सम्बोधन किया जाता है तो नाम जाति का होते हुए भी उसे समाज कह दिया जाता है और यहाँ तक कि व्यवसाय से जुड़े लोगों को भी उनके व्यवसाय का समाज कहा जाता है।

* डॉ. रमेश दवे SH-19, ब्लॉक-8, सहयाद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल।

समाज शब्द ने एक प्रकार से हमारे समूचे सोच के धरातल को प्रभावित किया। अब साहित्यकार समाज, बौद्धिक समाज, कलाकार समाज, सृजनशील समाज, धार्मिक समाज आदि शब्द तो प्रचलित हो ही गए हैं, लेकिन सकारात्मक और शीलवान शब्दों के बरअक्स अपराधी समाज, माफिया-समाज जैसे शब्द भी चलन में आ गए हैं। वैसे तो समाज का यदि बड़ा व्यापक मानवीय अर्थ निकाला जाए तो समान रूप से जन्म लेनेवाले लोग होना चाहिए, क्योंकि मनुष्य के जन्म लेने की प्रक्रिया जो प्रकृति प्रदत्त है, वह समान है। वह अलग-अलग जाति, धर्म, वर्ण या वर्ग में अलग-अलग नहीं होती और जीवशास्त्रीय प्रणाली चूँकि एक है, इसलिए जीवशास्त्र की यदि कोई जाति, धर्म, वर्ण या वर्ग नहीं है तो मनुष्य के जन्म लेने के बाद ऐसा सब कुछ क्यों? यदि सबका जन्म समान है, मृत्यु समान है तो आचरण, संस्कार या संवेदन के तंत्र अलग-अलग क्यों? इन संवेदन-तंत्रों के अलग होने का ही परिणाम है समाज की व्यापकता का संकीर्णता में विघटन और कबीलाई झगड़े, जातिगत या साम्प्रदायिक दंगे यहाँ तक कि क्षेत्र और भाषावादी दंगे भी इसी संकीर्ण सोच से पैदा हुए। जब भी कोई विचार या संस्कार संकीर्ण होने लगता है तो कट्टरताएँ, बुनियाद-परस्ती, द्वन्द्व या दंगे पैदा होते हैं। विराट मानवीय संवेदन क्षुद्र-जातीयता या कट्टरता आदि में बदल जाती है। छोटे-छोटे झगड़ों या आपसी टकराहटों का जब 'एथनिक' दंगों, क्षेत्रीय दंगों या साम्राज्यवादी लिप्साओं में विस्तार होता है तो गृहयुद्ध, सीमाई युद्ध या महायुद्ध तक पैदा हो जाते हैं। इसका यह भी अर्थ लगाया जा सकता है कि जब एक मानवीय-समाज अपना समाज-बोध खो देता है तो संकीर्णताएँ जन्म लेती हैं।

मनुष्य अपने ही अन्दर एक प्रकार का विचार-द्वन्द्व जीता है। वह संकीर्ण भी है और संकीर्णता के विरुद्ध भी। वह उदार भी है, कट्टर भी। वह सामाजिक भी है और असामाजिक भी। ऐसे में जिस मनुष्य-समाज का संवेदन-तंत्र अधिक प्रबल होता है, उदार, उदात्त और विचारवान होता है, वह समाज के लिए कुछ दिशा-सूत्र रचता है। वह नीतियाँ, विधियाँ, प्रक्रियाएँ, दण्ड आदि तो सामाजिक-स्तर पर तय करता ही है लेकिन जो मनुष्य, प्रकृति, समाज और उनकी स्थितियों के प्रति अधिक संवेदनशील होता है, वह संस्कार रचने, दिशा देने, प्रेरित करने का काम करता है और ऐसा समाज साहित्यकारों, चिन्तकों, वैज्ञानिकों, बौद्धिकों और समाजकर्मियों आदि का होता है। साहित्य रचना कितनी भी स्वान्तः सुखाय हो लेकिन उसके अन्दर निहित होता है मनुष्य और प्रकृतिगत ऐसा संवेदन जो समाज के व्यापक जीवनबोध से जुड़ा होता है। यही कारण है कि समाज में कलाएँ, साहित्य, सर्जनात्मक कर्म, उत्सव, त्योहार, लोकाचार आदि इतने महत्त्वपूर्ण हैं। यदि यह सब न हो तो मनुष्य-समाज और पशुवर्ग में अन्तर ही क्या रहेगा? स्त्री-समाज या पुरुष-समाज जैसे शब्दों का प्रयोग जब हम करते हैं तो दो रूपक एक साथ बनते हैं, दो छवियाँ प्रकट होती हैं, दोनों का एक युग्म

भी बनेता है और दोनों की दो अस्मिताएँ भी जाहिर होती हैं। स्त्री-पुरुष मिलकर ही मनुष्य-समाज कहलाते हैं। इसलिए जाति, वर्ग, झुण्ड, समूह, समुदाय, कबीला, वर्ण आदि ये तमाम पृथक-पृथक अर्थ देनेवाले शब्द मानवीय होते हुए भी, समाज शब्द के साथ जुड़ते ही स्वयं भी बड़े हो जाते हैं। बावजूद इसके यदि समाज बनने पर भी हमारा मनुष्य-बोध व्यापक नहीं होता, हमारे संवेदनतंत्र का मानवीय-विस्तार नहीं होता, तो समाज के बड़े अर्थ भी छोटे हो जाते हैं और ऐसा समाज चिन्तन, कर्म, संस्कार, आचरण आदि सभी में निम्न-समाज बना रहता है।

एक सर्जक या साहित्यकार सर्वाधिक बड़ा काम यह करता है कि वह समाज की पूरी विचार-भूमि को बदल देता है। वैज्ञानिक भी ऐसा करता तो जरूर है, लेकिन वह अपनी वस्तुनिष्ठता की निष्ठा में इतना कठोर है कि साहित्यकार की तरह मनुष्य के संवेदनतंत्र को प्रभावित नहीं कर पाता। भाव और स्वभाव का निर्माण, परिमार्जन और आचरण में रूपान्तरण एक सर्जक ही कर पाता है फिर चाहे वह साहित्यकार हो या सामाजिक चिन्तक।

एक सर्जक, लेखक या साहित्यकार समाजशास्त्रियों, नृत्तत्वशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों और धार्मिक संगठनों की अपेक्षा 'समाज' शब्द को अनेक अर्थों में रचता है। उसके बाह्य और भीतरी अर्थों में अनेक बिम्ब या रूपक गढ़ने का काम वह करता है। वह तो शब्दों के ऐसे जीवंत समाज में जीता है, जहाँ उसकी रचनाओं और विचारों को प्राण मिलते हैं। उसके लिए समाज उसकी रचना का अंग और अंश दोनों हैं। जब समाज शब्द से एक सर्जक के सम्बोधन निकलते हैं तो वे कभी किसी कबीर या तुलसीदास के सम्बोधन होते हैं, कभी रवीन्द्रनाथ, शरत्चन्द्र और प्रेमचंद के होते हैं, तो कभी समय के उन समस्त सर्जकों के सम्बोधन होते हैं जो समाज को अपनी-अपनी तरह से कहानी, कविता, नाटक, निबंध, उपन्यास आदि विधाओं के माध्यम से देखते, समझते और उसमें नए अर्थबिम्बों का निर्माण करते हैं। उसके लिए तो पशु-पक्षी तक भी समाज बन जाते हैं, साधु-संत भी समाज बन जाते हैं, पीर-फकीर भी समाज बन जाते हैं। वही देख पाता है कहीं गुलामी और गुलामों का समाज, या आजादी और आजादों का समाज। वह समाज में दर्शन की प्रतिष्ठा करता है और विचार के स्तर पर विचारधारा का भी प्रक्षेपण करता है। इसलिए विचार या विचारधारा के आधार पर हमें रूसी या चीनी समाज राजनीतिक रूप से कभी प्रतिबद्ध, साम्यवादी, वामपंथी या समाजवादी समाज लगता है तो अमरीकी या पश्चिमी यूरोप का समाज प्रतिक्रियावादी या बुर्जुआ समाज। इसी विचारधारागत प्रभाव से एक द्वंद्वात्मक समाज उपजता है, इसी से वाद उत्पन्न होते हैं, कलावाद और यथार्थवाद जैसे उपकरण तैयार होते हैं जिनके जरिये हम सृजन का मूल्यांकन या स्तर तय करते हैं।

हिन्दी साहित्य में विचार या विचारधारा के स्तर पर अनेक समाजवादी या साम्यवादी आए। रूस की 1917 की क्रान्ति के बाद लगभग चौहत्तर वर्ष तक

समाजवादी विचारों का वर्चस्व अनेक नव स्वतन्त्र और विकासशील राष्ट्रों पर तो रहा ही साथ ही अनेक विकसित राष्ट्रों में भी उन विचारों के शिविर पैदा हो गए। विचार जब भी पैदा होता है, यदि वह लोक ग्राह्य है तो लम्बे समय तक प्रभाव डालता है, यहाँ तक कि विचारधारा बनकर राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर छा जाता है। यदि विचार अप्रासंगिक भी हो जाता है, तो भी अपनी ध्वनियाँ कायम रखता है, वह पूरी तरह मरता नहीं, हाँ इतना जरूर है कि वह अपने भीतर कुछ परिवर्तन समय के अनुसार करने लगता है। वह अपने मूल बीज से तो नहीं हटता किन्तु अपने द्वारा निर्धारित अनेक मान्यताएँ और मापदण्ड बदल देता है। जो विचार जन में, सत्ता या राजनीति में विचारधारा बनकर पोषित होने लगता है, वह कट्टर, कठोर और निरंकुश हो जाता है जैसे स्टालिन के कार्यकाल में रूस में हुआ था यहाँ तक कि साम्यवादी लौह-कवच की तरह अनेक समाजवादी-मार्क्सवादी देशों में रहा और आज भी कुछ हद तक चीन में तमाम बहुराष्ट्रवाद और बाजारवाद के बावजूद वैसा ही बना हुआ है। जब विचारधारा आतंकित करने लगती है, तो अन्दर-ही-अन्दर जन-विरोध पलने लगता है और एक बौद्धिक क्रान्ति का सूत्रपात पेरस्त्रोइका या ग्लासनोस्त बनकर हो जाता है। विचार भले ही न मरे, विचारधारा भी न मरे, मगर व्यवस्था मरने, मुरझाने या गिरने लगती है जैसा रूस, उसके गणतंत्रों और पूर्वी योरप के अनेक देशों में हुआ। इसका एक तात्पर्य यह भी हुआ कि जब कोई समाज किसी विचारधारा से ऊबने लगता है तो वह विकल्प की खोज शुरू कर देता है। शक्ति या आतंक की संरचना करके आप व्यवस्था का बोझ अधिक दिन तक नहीं ढो सकते। यदि ऐसा होता तो नीरो, नेपोलियन, तैमूर और हिटलर-मुसोलिनी के राज कभी खत्म नहीं होते, न अफ्रीका-एशिया और लेटिन अमेरिका से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद उखड़ता और न वहाँ का साहित्यकार, वैज्ञानिक, सर्जक कभी पेस्तरनाक, सोल्जेनित्सिन, सुखोरोव ओसिप मंदेलशताम, नाडीन गोर्डेमेर आदि बनकर उस दुर्दान्त सत्ता का बौद्धिक विरोध कर पाते। सत्ताएँ जितनी जन से नहीं, उतनी शब्द से डरती हैं इसलिए शब्द का समाज सर्वाधिक शक्तिशाली समाज होता है।

अब प्रश्न यह है कि साहित्यकार अपने समाज से क्या पाता है और समाज को क्या देता है? समाज से उसे मनुष्य मिलते हैं; वस्तुएँ मिलती हैं; विषय मिलते हैं; घटनाएँ और पात्र मिलते हैं; तरह-तरह के विश्वास, अविश्वास और अंधविश्वास मिलते हैं; लोकाचार, लोक-प्रसंग और सांस्कृतिक आधार मिलते हैं। ये सब जब समाज में हैं; सहज, सामान्य और जीवनगत जरूरतें बनकर भी जुड़े हैं। लेकिन ये सब जब एक सर्जक के पास आते हैं तो मनुष्य चरित्र या पात्र में बदल जाते हैं, घटनाएँ और स्थितियाँ परिवेश बन जाती हैं, लोकाचार या तमाम प्रकार के लोकप्रसंग सौन्दर्य और संवेदन बन जाते हैं और विश्वास-अंधविश्वास मिथक में बदल जाते हैं। इन सबकी भौतिक सत्ताएँ काल्पनिक होकर बिम्ब-सत्ता में बदल जाती हैं, वे वस्तु से

रूपक हो जाते हैं; विषय से विचार हो जाते हैं और चरित्र या पात्र से अभिव्यक्ति बनकर व्यक्त होने लगते हैं। एक नई सृष्टि आकार लेती हैमूर्त्त में भी, अमूर्त्त में भी। और इस तरह शब्द में नए-नए अर्थ ग्रहण कर सौन्दर्य, संवेदन, शक्ति, शील आदि की अनेक भाववाचक भूमिकाएँ समाज निभाने लगता है। यह समाजवादी विचारधारा का एक सूत्र था कि समूचा ज्ञान समाज की रचना है। इसी विचार को यदि एक सर्जक के सन्दर्भ में रखकर देखा जाए तो उस ज्ञान की रचना सर्जक करता हैपर रचनाकार साहित्यिक भी हो सकता है और साहित्येतर व्यक्ति भी। ज्ञान या उससे बने समाज या दूसरे ढंग से कहें कि उस समाज और उसके द्वारा रचे गए ज्ञान का निर्माता बनता है तो वह कहीं-न-कहीं विचार या विचारधारा के प्रभाव से ग्रस्त हो जाता है, लेकिन जब ऐसा एक साहित्यकार करता है तो वह समूची भौतिक वस्तुवादी सत्ता को भावसत्ता में बदल देता है। न वह विचार का बन्दी रहता है, न विचारधारा का। दुनिया का उत्कृष्टतम साहित्य भावसत्ता के निर्माण से ही रचा गया है। टॉल्स्टाय, दोस्त्येवस्की हों, एलियट या जितने भी आधुनिकतम महान सर्जक हैं, उन्होंने भावमूलक रचनाएँ कीं जिनमें कहीं विचारधारा का द्वंद्व दिखाई नहीं देता। विचारधारा-पोषित साहित्य इसीलिए इतना ऊँचा नहीं उठ सका कि उसमें कोई दूसरा शेक्सपीयर, तुलसीदास या टॉल्स्टाय नजर नहीं आता, जबकि स्वतन्त्र, अप्रतिबद्ध और मुक्त चेतना, अन्तर्दृष्टि और मानवीय जीवनानुभूतियों से रचे गए साहित्य में ऐसे भी सर्जक आए जिन्होंने पूर्ववर्ती विचारधारा-मुक्त सर्जकों की प्रतिष्ठा और परम्परा को आगे बढ़ाया और रचना की स्थापना मुक्ति के सौन्दर्य और समाज के संवेदन के साथ की।

समाज को साहित्यकार सर्वप्रथम उसकी व्यक्तिवाचक या जातिवाचक संज्ञा से मुक्त कर भाववाचक संज्ञा में स्थापित करता है। इसलिए साहित्यकार और साहित्य के लिए समाज सौन्दर्य, करुणा, संवेदन, चेतना, लोक आदि सब कुछ है। सर्जक में ही वह क्षमता है कि वह समाज की समस्त भौतिकताओं का रूपान्तरण कर दे। उसमें सजीव सक्रिय मनुष्य उपस्थित न हो तब भी, वह ध्वनि में, अनुगूँज में, अनुभव या अहसास में उपस्थित लगे। अनुपस्थित को उपस्थित और उपस्थित को अनुपस्थित कर देने की कला एक सर्जक के पास ही होती है। उसका मनुष्य, उसका जीव चराचर, उसकी पृथ्वी, आकाश, जल, वायु, अग्नि सब प्राणवान हैं, सब उसके साथ संवाद कर सकते हैं। समाज उसका राग भी है, विराग भी। समाज उसके होने का आश्वासन भी है और उसके न होने पर भी उसका स्मृति बन जाना भी। इसलिए साहित्यकार के लिए समाज उसकी स्मृति का जीवित दस्तावेज भी है।

जब एक सर्जक समाज से अपने राग-विराग के साथ सम्बद्ध होता है तो वह अपनी रचना में अपना समाज भी रचता है। इसीलिए तो हम कह पाते हैं यह जैनेन्द्र के उपन्यासों का समाज है, यह प्रेमचन्द के, यह रेणु के और यह अज्ञेय, निर्मल वर्मा

या मुक्तिबोध के साहित्य का। अगर शरत्चन्द्र के 'चरित्रहीन' या प्रेमचंद के 'रंगभूमि' को पढ़कर किसी व्यक्ति, समूह या समाज में कोई परिवर्तन आता है तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि प्रेमचंद या शरत्चन्द्र ने अपनी रचना का समाज रच डाला है। कई बार यह काम बड़ी काव्य कृतियों या संत-सूफी काव्य ने भी किया है। मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती ने जो समाज रचा था, वह स्वतन्त्रता का समाज इसीलिए बना कि उस समाज के आन्दोलनकारियों के साथ केवल राजनीतिक नेता या जन ही नहीं थे, बल्कि शब्द और शब्द का रचनाकार भी साथ था। देश की भावसंज्ञा साथ थी। इसलिए उस भावसंज्ञा का समाज देशभक्त समाज बना।

जो देश या समाज अपने साहित्य और साहित्यकार के प्रति संवेदनशील होता है, उसके बौद्धिक संस्कार भी ऊँचे दर्जे के होते हैं। संभवतया ऐसा रहा होगा, जब भारत को जगद्गुरु कहा जाता था। चीन, सिकंदरिया, ग्रीस, रोम और यूरोप के बड़े हिस्से ने जिस मनीषा को जिया था, उसी के कारण वे आज तक परम्परा निर्माता देश या समाज के रूप में जाने जाते हैं। आज जब हम फ्रांस और जर्मनी से नए विचार आते देखते हैं, कलावाद के नए-नए आन्दोलन जन्म लेते देखते हैं, उत्तर-आधुनिकों की एक प्रगल्भ प्रतिभ श्रृंखला देखते हैं; तो लगता है, वहाँ की सामाजिक और बौद्धिक चेतना कितनी क्रान्तिदर्शी और समय एवं अवकाश के अवबोधों से सम्पन्न है। यदि ऐसा नहीं होता तो देरिदा, ल्यौतार रोटी, एडवर्ड सर्ईद, फोकू आदि के नाम उत्तर-आधुनिकों की दार्शनिक-प्रज्ञा के साथ नहीं लिए जाते। अगर उम्बेर्तो एको, इताल्लो केल्विनो जैसे अपेक्षाकृत जटिल सर्जकों और मिशेल फोकू जैसे तूफानी विचारक का इटली और फ्रांस का समाज अपनी चेतना में स्वीकार कर एक विश्वव्यापी संवाद उत्पन्न करता है तो लगता है यूरोप की चिन्तन परम्परा उन्नीसवीं-बीसवीं सदियों के मलार्मे, वेलेरी, रिल्के, लीविस, ल्यूकाच, हावर्ड फॉक्स आदि की वैचारिक परम्पराओं से आगे गई है। ऐसे में भारतीय या एशियायी लोग अपने अतीत पर कितना भी गर्व करें, लेकिन अतीत की तो क्या, मध्यकालीन संत साहित्य परम्परा की-सी तेजस्विता और सृजनशील परम्परा को उसी उत्कर्ष के साथ आगे नहीं ले जा सके। छायावाद ने उस परम्परा से हटकर अपनी परम्परा रची तो अवश्य, लेकिन छायावाद आखिर किसकी छाया थाकहाँ था उसका मूल? भारतीय दर्शन, वेदान्त या उपनिषदीय चिन्तन में या योरप में बीत चुके रोमेंटिसिज्म में? छायावाद ने क्या अपनी कविता का वैसा समाज रचा जैसे योरप के सौन्दर्यवादियों और प्रिरेफ्लाइट कवियों ने कुछ समय के लिए रचा था? प्रकृति और मनुष्य के रहस्यमय दर्शन और अध्यात्म को नए बिम्बों व स्वच्छन्द रूपकों के साथ रचा तो अवश्य, लेकिन छायावाद भी कुछ दशक का आन्दोलन बनकर उत्तर छायावाद, प्रयोगवाद और प्रगतिवाद के शोर में समा गया।

छायावाद के साथ और बाद कुछ राष्ट्रवादी धारा का प्रभाव बना था और उस

समय के साहित्य ने समाज में राष्ट्रवादी या देशभक्ति की चेतना पैदा की थी किन्तु वह कविता अपने काव्यगुणों में दायम दरजे की ही कहलाई। जोर-शोर का काव्य और ग्रामीण-शहरी परिवेश की भावुक कहानियों-उपन्यासों में सृजन की उत्कृष्टता का कोई आकार नहीं बनता था। इसलिए जैनेन्द्र या प्रेमचंद का पाठक-समाज बना तो जरूर, कुछ हद तक रेणु ने भी उस परम्परा का निर्वाह किया, लेकिन शेष सामाजिक, ऐतिहासिक या मानवीय द्वन्द्व के रचनाकारों का साहित्य या तो समाजवादी यथार्थों की थोथी नारेबाजी बनकर रह गया या फिर मजदूरों-किसानों के छेनी-हथौड़ों और हंसिया-हल का शोर बन गया। वहाँ से काव्य या कहानी, नाटक, निबन्ध का वह उन्मेष प्रकट नहीं हुआ, जो भारतीय समाज की लोक-चेतना और बौद्धिक विरासत का प्रतिनिधित्व करता। वह तो मात्र उस समय के राजनीतिक ध्रुवों के बीच लटका रहा था फिर एक विचारधारा विशेष के पोषण से साहित्य की राजनीति में जीता रहा। शिविरबद्धता का जो खेल उस समय साहित्यकार समाज ने खेला, उससे वे अपने जैसा समाज भी नहीं रच सके और उनकी तमाम समाज-उन्मुखी या जनोन्मुखी भाषा और तेवर भविष्य में दखल देने के बजाय अपने वर्तमान में ही विलुप्त हो गए।

नई कविता के साथ और नई कहानी के साथ साहित्य ने नई दिशा ग्रहण की। पश्चिम का कितना भी प्रभाव रहा हो लेकिन एक नई बौद्धिक चेतना का विस्तार हुआ। समाज साहित्य को पढ़ने का सलीका सीखने लगा। कविता, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि को भावुक जोश के साथ पढ़ने के बजाय आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने का अनुशासन पैदा हुआ। इसलिए आज का बौद्धिक समाज केवल समाचार-पत्र-वाचक समाज नहीं है, बल्कि चाहे समाचार हो, गम्भीर लेख हो या साहित्यिक कृति, बौद्धिक समाज के लिए वह एक प्रकार की आलोचनात्मक सामग्री है जो साहित्य समाज को आलोचक दृष्टि दे, आलोचनात्मक वस्तुनिष्ठता दे, आलोचना से साहित्य में निहित सत्य के अन्वेषण के लिए प्रेरित करे वह साहित्य एक आलोचक-समाज या आलोचक-राष्ट्र की रचना कर सकता है। देशभक्ति की शोर भरी कविताओं से मंच पर वीर-रस की वर्षा करने से समाज की तात्कालिक भावुकता पैदा तो होती है लेकिन आलोचनात्मक शक्ति नहीं। यही कारण है कि मंच-काव्य आज तक साहित्य में वैसा मुकाम हासिल नहीं कर सका जैसा दृष्टि-सम्पन्न, विचारवान और कल्पनाशील काव्य।

आज जरूरत है वैचारिक जड़ता से मुक्त समाज की। अब किसी ध्रुव की विचारधारा से हम अपनी सामाजिक चेतना का संचालन नहीं कर सकते। साहित्य से पूर्णता या अखण्डता का कोई भ्रम टूटा है और विखण्डन एक नए विचार की तरह आया है तो साहित्य का दायित्व है कि वह उस विखण्डन को समाज के सामने रखे फिर चाहे वह विखण्डन विचार का हो, भाषा का हो या हमारी समूची शास्त्रीय विचार परम्परा का। यदि पश्चिम इतिहास, उपन्यास, महानायक, महाकाव्य आदि सभी की मृत्यु घोषित करता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि दरअसल ये सब मर गए हैं और

इनका लेखन बन्द हो गया है। यदि इस मृत्यु को विवेचनात्मक ढंग से देखा जाए तो हमारे इतिहास, उपन्यास, महानायक और महाकाव्य के प्रत्ययों का रूपान्तरण हुआ है किसी अन्य चेतना में। इतिहास हमारी दृष्टि हो सकता है लेकिन इतिहास हमारी भौतिक आवश्यकता नहीं। हम स्मृतियों से, छोटे-छोटे नायक-समूहों से, विचार एवं नए बौद्धिक धरातल की रचना से सारे पुराने प्रारूपों को बदल सकते हैं। हमने भाषा को कितना बदला है। हमारे पास नए मुहावरे, नए परिवेश और नए पर्यावरण हैं। हम इनसे प्रतिदिन अन्तःक्रिया करते हैं। इसलिए अब जो समाज बन रहा है, वह नई चुनौतियों का समाज है। साहित्य को ऐसे में अपनी चुनौतियों का अलग से वरण करना होगा।

वर्तमान समय की जितनी भी भौतिक, बहुराष्ट्रवादी, बाजार और सूचनावादी चुनौतियाँ हैं, वे साहित्यकार के लिए कोई चुनौती नहीं क्योंकि उनसे तो वह उद्वेलित होता ही नहीं। उसकी चुनौती है कि अगर विज्ञान से किसी विचार का जन्म होता है तो साहित्य से भी कोई ऐसा विचार जन्म क्यों न ले जो या तो विज्ञान के विचार से ऊपर प्रतिष्ठित हो या उसका सहगामी हो? इसलिए एक सर्जक को अपना समय अपना अवकाश स्वयं गढ़ना पड़ता है। उसे गणितीय समय से या नीलेशे के पशु समय से मुक्त होकर चेतना-समय में आकर नई कल्पनाएँ करना होता है। साहित्यकार के पास यदि चेतना और कल्पनाओं का अंत हो गया तो फिर सारी सृष्टि की भाव-संज्ञा ही लुप्त हो जाएगी और बचेगा केवल ऐसा समाज जो जन्म लेगा, मरेगा भी, मगर अपने होने को सिद्ध नहीं कर सकेगा।

भारतीय आख्यान-परम्परा : स्वरूप और प्रयोजन

राममूर्ति त्रिपाठी*

‘आख्यान और गल्प’ Narrative तथा Fiction के रूपान्तर प्रतीत होते हैं। यों ये शब्द भारतीय वाङ्मय में भी अपने मूलरूप में मिलते हैं। विषय की जैसी रूपरेखा प्रस्तावित हुई है उससे स्पष्ट है कि भारतीय सन्दर्भ तो केन्द्र में है हीपर जब विज्ञान ने विश्व को इतना करीब ला दिया है तब उसकी वैश्विक व्याप्ति या व्यापक परिवेश कैसे नजरअन्दाज किया जा सकता है? अन्तःसम्बद्ध बिन्दुओं का समावेश सर्वथा समुचित ही है।

व्यवस्थित विचार जिस विषय पर आरम्भ होता है उसकी सत्ता बहुत पहले से विद्यमान रहती है। आख्यान और गल्प भी इसके अपवान नहीं हैं। आख्यानों की सत्ता का प्रमाण ऋग्वेद की संहिता से ही उपलब्ध होने लगता है। वेदों में आए हुए ऐसे ही आख्यानों का संग्रह ‘पुराण संहिता’ नाम से अथर्ववेद आदि में उल्लिखित है। उदाहरण के लिए सुपर्ण और पुरुरवा आदि के आख्यान लिए जा सकते हैं। अथर्ववेद (10/7/26) में इतिहास तथा पुराण का उल्लेख मौखिक साहित्य के रूप में न होकर लिखित ग्रन्थ के रूप में किया गया मिलता है। वेदों की व्याख्यान-प्रणाली के विभिन्न सम्प्रदायों में यास्क ने ऐतिहासिकों के सम्प्रदाय का अनेक बार उल्लेख किया है जिनके अनुसार वृत्रत्वाष्ट्र असुर की संज्ञा है और देवों के अधिपति इन्द्र के साथ उसके घोर संघर्ष और तुमुल संग्राम का कथन ऋग्वेद के मन्त्रों में किया गया है। इस सम्प्रदाय के व्याख्याकारों की संमति में वेदों में महत्त्वपूर्ण आख्यान विद्यमान हैं। इनमें से कुछ आख्यान तो वैयक्तिक देवता के विषय में हैं और कुछ सामुहिक घटना को लक्ष्य कर प्रवृत्त होते हैं। ऋग्वेद के अन्तर्गत तीस आख्यानों का स्पष्ट निर्देश है। ऋग्वेद से भिन्न वैदिक ग्रन्थों से भी आख्यानों का विवरण दिया गया है। इनमें से कुछ तो एकदम नवीन हैं और कुछ ऋग्वेद में ही सम्मिलित आख्यानों के परिवृष्टित रूप हैं। ऋग्वेद से संबद्ध अनुक्रमणी साहित्य में विशेषतः बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी में, निरुक्त,

* राममूर्ति त्रिपाठी, 2 स्टेटबैंक कालोनी देवासरोड, उज्जैन (म.प्र.)

नीतिमंजरी और सायणभाष्य में इन आख्यानों की विस्तृत घटनाओं का भी कथन हुआ है। आख्यान पुराणों में भी मिलते हैं परन्तु इनकी घटनाओं में कहीं हास तो कहीं परिवृंहण दृष्टिगोचर होता है। ब्राह्मण तथा श्रौत सूत्र भी इनके विकास के अध्ययन के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ, सोमरि काण्व का आख्यान, जो ऋग्वेद के अनेक सूत्रों में संकेतित है, श्रीमद्भागवत् में विस्तार से वर्णित है (भागवत् 9, 19, 20, 21, 22, स्कन्ध 9 अध्याय 1/38-55)। इस प्रकार वैदिक आख्यानों की विपुल सामग्री ताण्ड्य ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण, श्रीमद्भागवत्पुराण में तो पल्लवित हुई ही है अन्य पुराणों के अतिरिक्त महाभारत और रामायण में भी रोचक विस्तार के साथ पल्लवित हुई ही है, स्वयं रामायण, महाभारत को भी आख्यान महाकाव्य कहा गया है।

अब यह देखना है कि आख्यान से तात्पर्य क्या है? उसका स्वरूप क्या बनता है? इस पर मनीषियों में मतभेद हैं। मनीषियों की दृष्टि से देखा जाए तो आ उपसर्गपूर्वक कथनार्थ 'ख्या' धातु से भाव में ल्युट् प्रत्यय होने पर 'आख्यान' शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है कथन, निवेदन आदि; कथा-कहानी तथा प्रतिवचन या उत्तर। प्रमाण में पाणिनि का "अनन्त्यसया प्रिय प्रश्नाख्यानयोः" (8/2/105) प्रस्तुत किया जाता है जहाँ आख्यान शब्द विद्यमान है। पाणिनि के और सूत्रों में भी आख्यान शब्द का प्रयोग मिलता है व्युत्पत्ति भेद से वहाँ अर्थ भेद भी है। मनुस्मृति के तृतीय अध्याय में पितृश्राद्ध के अवसर पर किए जाने वाले कर्मों के विवरण में कहा गया है

स्वाध्यायः श्रावयेत् पित्र्ये धर्म शास्त्राणि चैवाहि
आख्यानानीतिहासाश्च पुराणानि खिलानिच ।। मनु. 3/232

इसका व्याख्यान करते हुए कुल्लूक भट्ट ने लिखा है
आख्यानानि सायमर्णमैत्रावरुणपणादीनित। इससे स्पष्ट है कि आख्यान वैदिक सुपर्ण और मैत्रावरुण आदि से सम्बद्ध कथा का ही नामान्तर है। परम्परा से महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थ भी आख्यानकाव्य के रूप में मान्य हैं। इससे क्रम यह हुआ कथन-कथाऐतिहासिक महाभारत आदि ग्रन्थ। इससे यह भी स्पष्ट हो रहा है कि आख्यान पद्यवद्ध ही सही गविवरण भी हो सकता है वे आकार में लघुकाय भी हो सकते हैं और वृहत्काय भी कथा-कहानी भी और महाकाव्य भी। पं. आद्याप्रसाद मिश्र की धारणा है कि अनेक आख्यानों एवं उपाख्यानों का 'नय' नामक इतिहास ग्रन्थ (वर्तमान महाभारत के मूलरूप में) में संग्रह होने के कारण ही परिवर्द्धित महाभारत को आख्यान काव्य का नाम प्राप्त हुआ होगा। इस अर्थ के प्रमाण में तारानाथ ने 'वाचस्पत्यम' में एक श्लोक उद्धृत किया है

नामास्य सर्गोपादेवकथयमा सर्गनाम तु।
आस्मिन्नार्षे पुनः सर्गाः भवन्त्यारध्यानसंक्षकाः ।।

और इसका उदाहरण देते हुए 'यथा भारते रामोपाख्यानं, नलोपाख्यानामित्यादि' लिखा है। इस प्रकार विभिन्न प्रयोगों और उल्लेखों के साक्ष्य पर आख्यान का जो स्वरूप उभर रहा है उसमें ऐतिहासिकता का अंश उद्गीत लगता है। इस सन्दर्भ में डॉ. ब्लूमफील्ड ने एक आपत्ति खड़ी की है। उन्होंने कहा है कि जो विद्वान इन पुरातन वैदिक आख्यानों में रहस्यवान देखते हैं या उनकी इस तरह की व्याख्या करते हैं वे इससे असहमत हैं। उदाहरण के लिए पुरुरवासम्बद्ध आख्यान को लिया जा सकता है। वे मानते हैं कि पुरूखा सूर्य और उर्वशी उना हैं। उना और सूर्य का परस्पर संयोग क्षणिक ही होता है। उनके वियोग का काल बड़ा लम्बा होता है। वियोग होने पर सूर्य उना की खोज में दिन-भर घूमता रहता है, तब कहीं जाकर दूसरे दिन प्रातःकाल दोनों का समागम होता है। कुमारिल भट्ट तथा सायण आदि की व्याख्या का यही रूप था। इस तरह की व्याख्या आख्यानों को मानवीय मूल्यों से वंचित कर देती है जो उपयुक्त और न्यायतः उचित नहीं होगा।

ऊपर काव्यशास्त्र तक वाङ्मय के उल्लेखों के साक्ष्य पर आख्यान का स्वरूप और उसकी अर्थपरिधि पर विचार किया गया है। काव्यशास्त्र में भामह ने कुछ भेदक तत्त्वों का उल्लेख करते हुए गद्य काव्य के दो भेद तय किए कथा और आख्यायिका। पहले की कथाएँ कल्पित हैं और दूसरे की ऐतिहासिक। कादम्बरी वाण के शब्दों में अतिद्रयी कथा है सुबन्धु की वासवदत्ता और दण्डी के दशकुमार चरित से बढ़कर, पर हर्षचरित आख्यायिका है। दण्डी ने इसका विरोध किया और कहा कि ये भेदक तत्त्व किंचित् कर हैं। वस्तुतः ये सब एक ही जाति के हैं और इस जाति का नाम है आख्यान

तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञा द्रयाङ्किता ।

अत्रैवान्तर्मेविष्यन्ति शेषाश्चाख्यान जातयः ।। काव्यादर्श 1-28

इससे स्पष्ट है कि दण्डी के समय में आख्यान एक जातिवाचक शब्द था। अनेक आख्यानों और उपाख्यानों का संकलन होने के ही कारण रामायण और महाभारत को भी आख्यान संज्ञा मिली है। यद्यपि परवर्ती लक्षण ग्रन्थकारों ने दोनों भेदों को पृथक्-पृथक् कहने की लीक बराबर पीटी है। साहित्यदर्पणकार ने ऐतिहासिकता और पुरातनता को दृष्टिगत कर कहा है आख्यान पूर्ववृत्तः अर्थात् आख्यान पुरावृत्त कथन है।

हो सकता है कि रामायण और महाभारत की घटनाओं को इन आर्षकवियों ने देखा-सुना हो जिसे स्वयं अपने में अस्पष्ट एवं अनिश्चित अर्थ की सम्भावना से मुक्त नहीं किया जा सकता। वैदिक साहित्य से लेकर संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी साहित्य तक जितने भी आख्यान मिले हैं या जिन्हें आख्यान ग्रन्थ कहा जाता है उनमें से कोई एकाध अपेक्षाकृत अधिक वृत्तान्तपरक और तदनुसार विशुद्ध ऐतिहासिक हों तो हों ये शेष में कल्पना का ही विलास है। अतः आख्यान के स्वरूप में कल्पना का

समावेश अपरिहार्य है। इस प्रकार आख्यान कल्पित भी हैं और हो सकते हैं। ब्राह्मण परम्परा के समानान्तर प्रवहमान श्रमण परम्परा कहीं ज्यादा लोकोन्मुख और यथार्थोन्मुख हैं, वहाँ कल्पना ने इतिहास को आक्रान्त कर रखा है। जिन लोककथाओं का भण्डार है गुणाद्वय की बड़कहावहाँ कल्पना का अखण्ड साम्राज्य है। कुछ लोग तो आदिकालीन आख्यानक प्रगतियों से नृत्य, संगीत और आख्यान का विकास मानकर बताते हैं कि आख्यानों का वस्तुतत्त्व पौराणिक, निजन्धरी, समसामयिक तथा कल्पितइन चारों प्रकार के पात्रों, घटनाओं और परिस्थितियों को लेकर गठित हुआ है। सर्जनात्मक साहित्य निरन्तर गतिशील है। वह युगानुरूप अपनी विधाओं में परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन तथा परिष्कार करता चलता है और लक्षण इन्हीं के अनुसार निर्मित होते हैं। आख्यान ओर आख्यायिका में ध्वनि साम्य देखकर भले ही दोनों को कुछ लोगों ने एक मान लिया हो पर गतिशील साहित्य की विशेषताओं ने उन ढाँचों और परिस्थितियों का अतिक्रमण किया है। रूद्रट ने तो यहाँ तक कह दिया था कि केवल संस्कृत में निवद्ध कथाओं के लिए गद्य में लिखने का बन्धन है, परन्तु अन्य भाषाओं में लिखी जाने वाली रचनाएँ पद्य में ही लिखी जा सकती हैं लिखी गई हैं। इस प्रकार आख्यान के घटकों की संख्या बढ़ती गई। अब हम कह सकते हैं कि आख्यान वक्ता स्रोता के बीच कही हुई अपनी निरन्तरता में संश्रुखल घटना या घटनाओं का समूह है। उसमें इतिहास ही नहीं, कल्पना का अवलम्ब भी लिया जाता है। वह आकार में छोटा भी हो सकता है और बृहदाकार भी। वह गद्य और पद्य दोनों शैलियों में लिखा जा सकता है। वह वर्णनात्मक नहीं है उसमें तार्किकता का सान्द्र संनिवेश सम्भव नहीं है उसमें अभिनेयता या प्रदर्शन नहीं है। घटना प्रधान होने से उसमें कहीं-न-कहीं कुतूहलवर्द्धकता भी विद्यमान रहती है इसलिए रोचकता और रंजकता की स्थिति भी सम्भव है।

“Modern Applied Linguistics” में Narration की लगभग यही विशेषताएँ बताई गई हैं।

Narrative {na-ra-tiv} a telling of some true or fictitious event or connected sequence of events, recounted by a narrator to a narratee {although there may be more than one of each}. Narratives are to be distinguished from descriptions of qualities, states, or situations, and also from dramatic enactments of events {although a dramatic work may also include narrative speeches}. A narrative will consist of a set of events {the story} recounted in a process of narration {or discourse} in which the events are selected and arranged in a particular order {the plot}. The category of narratives includes both the shortest accounts of events {e.g. the cat sat on the mat or a brief news item} and the longest historical or biographical works, diaries, travelogues, etc, as well as novels, ballads, epics, short stories, and other fictional forms. In the study of fiction, it is

usual to divide novels and shorter stories into first person narratives and third-person narratives.

पौरवत्य एवं पाश्चात्य दृष्टि से आख्यान के स्वरूप पर विचार कर लेने के बाद उपस्थित है उसके प्रयोजन पर विचार। आख्यान ब्राह्मण परम्परा के समानान्तर प्रवहमान श्रमण परम्परा में भी विद्यमान हैं। दोनों धाराओं के अपने आगम हैं। अपौरुसम और आप्रवचन हैं। यदि इन्हें हम समेकित रूप में शिष्ट धारा या परम्परा कहें तो इनसे एक भिन्न धारा या परम्परा भी है जिसके व्यावहारिक बोध का आधार आगम या पोशियाँ नहीं हैं। इस धारा को शिष्ट परम्परा के समानान्तर लोकपरम्परा भी कह सकते हैं। इस प्रकार आख्यानों की शिष्ट और लोक सम्मत दो परम्पराएँ हुई। शिष्ट परम्परा में भी ब्राह्मण और श्रमण दो उपधाराएँ हुई। श्रमण परम्परा में भी दो अवान्तर धाराएँ हैं जैन धारा और बौद्ध धारा। भारतीय आख्यान परम्परा इन चारों में विद्यमान हैं। लोकपरम्परा का बृहद संग्रह गुणाद्वय की वृहत्कथा या बड़कहा है। आख्यानों में निहित प्रयोजनों पर विचार के सन्दर्भ में इन उपधाराओं को दृष्टिगत किया जाना चाहिए।

आख्यानों के स्वरूप पर विचार करते हुए ब्राह्मण धारा की आख्यान परम्परा का प्रसंगतः उल्लेख ऊपर हुआ है। ऋग्वेदीय ऋषि मानव की कल्याण सिद्धि के लिए उपादेय तत्त्वों का समावेश इन आख्यानों के भीतर करते हैं फलतः मानव समाज के ये कल्याण साधक बन गए हैं। इनकी शिक्षा मानव समाज के सामूहिक कल्याण तथा विश्वमंगल की अभिवृद्धि के निमित्त हैं। भारतीय संस्कृति में मानव और देव परस्पर सम्बद्ध हैं। प्रकृति की अधिष्ठात्री देवमयी शक्तियाँ मानव का भरण-पोषण करती हैं और बदले में व्यय हुई शक्ति जनित-रिक्तता को यजन के द्वारा मानव पूरा करता है। इस प्रकार देव यजन के पीछे यही परस्पर साहाय्य का सिद्धान्त है। इन्द्र तथा अश्विन विषयक आख्यान इसके विशद दृष्टान्त हैं। अपाला आत्रेयी का आख्यान नारी चरित्र की उदात्तता तथा तेजस्विता का विशद प्रतिपादक है। (8/91) राजा त्र्यरूप वैष्णव और बृशमान का आख्यान पुरोहित की महत्ता और गरिमा का आख्यान करता है। सौभरिकण्ड का आख्यान संगति के महत्त्व का प्रतिपादन करता है। उपस्थित चाक्रामण का आख्यान अन्य के सामूहिक प्रभाव तथा गौरव की कमनीय कथा है। उत्तक का आख्यान गुरुनिष्ठा का ज्वलंत निदर्शन है। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद, पुराण तथा आख्यान महाकाव्यों में वर्णित कथाएँ उपदेशपरक है। अनैतिकता के गर्त में गिरने से बचाने के लिए कविमय ऋषियों की चारित्रिक त्रुटियों तथा अनैतिक आचरणों का कथन इस धारा के साहित्य में प्राप्त हैं। विकास की प्रक्रिया में आख्यान कभी-कभी नितान्त विकृत रूप को धारण कर लेता है। मूल आख्यानों में अवान्तर घटनाएँ भी जुड़ जाती हैं। फलतः वे नया रूप धारण कर लेती हैं और कभी-कभी मूल के विरुद्ध भी हो जाती हैं। शुनःशेष तथा वसिष्ठविश्वामित्र के कथानकों का अनुशासन यही सिद्ध करता है।

यह कहना आवश्यक है कि ब्राह्मण तथा श्रमण दोनों धाराएँ समानान्तर प्रवाहित होती रहती हैं। श्रमण धारान्तर्गत जैन धारा पुरातन है। उनके भी आगम ग्रन्थ आख्यानों की गंगोत्री हैं। कहा जाता है कि ब्राह्मण धारा के संस्कृत कथाकार वेदों उपनिषदों के निगम और आगम ग्रन्थों में प्रतिपादित ईश्वरीय या ब्राह्मी शक्ति की सर्वोपरिता से आक्रान्त थे, पर प्राकृत कथाकारों में यह बात नहीं थी। यहाँ मानव शक्ति की ही सर्वोपरिता की प्रतिष्ठा थी। इसीलिए ईश्वर के कर्तव्य की अपेक्षा मानव के व्यक्तित्व में विपुल विश्वास के प्रति प्राकृत कथाकारों का आग्रह अधिक सजग रहा। पर ब्राह्मण परम्परा का शिक्षक दार्शनिक व्यास कहता है—“न मानवोच्छेष्टतरं हि किंचिद”। मानव में अव्यक्त रूप से स्थित परसत्ता सेवामार्ग से आत्मगत वैभव का साक्षात्कार करती हुई हम या ईश्वर का भी आराध्य हो जाती है। रामायण का भरत इस सत्य और विश्वास का देदीप्यमान दृष्टान्त है। यह सही है कि जैन धारा किसी कर्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार नहीं करती, फलतः जहाँ संस्कृत या ब्राह्मण धारा के कथाकार अतिलौकिक भावभूमि के पक्षधर रहे, वहाँ श्रमण धारा के प्राकृत कथाकार लोकोन्मुख रहे और लौकिक भावधारा को अतिलौकिक पृष्ठभूमि से जोड़कर मानवीय गरिमा के आख्यान पर बल देते रहे। बदलते हुए विविध विध परिवेश का प्रभाव दोनों धाराओं के आख्यानो के विकास में परिलक्षित होता है। जैनाख्यान धारा के सन्दर्भ में इस मान्यता से मैं सहमत हूँ कि चिराचरित सार्वभौम युगधर्म को विकसित कर उसमें लोकजीवन को लोकोत्तरवादी चेतना की व्यापक विनियुक्ति प्राकृत आख्यानों की मौलिक विशेषता है जो अपने भाषिक और साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से सारस्वत क्षेत्र के लिए अपूर्व उपलब्धि की गरिमा का संवहन करती है। जैनधर्म भी राजधर्म के रूप में स्वीकृत था इसलिए उसके प्रचार-प्रसार के लिए राज्याश्रित बुद्धिजीवी और सम्यक दर्शन ज्ञानचरित्र के सम्यकत्व द्वारा मोक्ष के आकांक्षी श्रमण तथा श्रमण कथाकारों द्वारा विपुल आख्यान साहित्य का आगमानुरोधी निर्माण होता रहा। प्रयोजन की दृष्टि से विचार करते हुए मनिषियों का निष्कर्ष सही है कि आगम परिवर्ती प्राकृत कथा साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि यहीं है कि प्राकृत कथाकारों ने न केवल लोकप्रचलित कथाओं को धार्मिक परिवेश प्रदान किया है या श्रेष्ठ की सर्जना केवल धर्मप्रचार के निमित्त की है अपितु प्राकृत कथाओं का प्रधान उद्देश्य केवल सिद्धान्त विशेष की उपस्थापना के साथ-साथ अपने समय के सम्पूर्ण राजधर्म या युगधर्म का प्रतिबिंबन भी किया है। इसमें भावों की रसपेशलता, सौन्दर्य, चेतना और निर्दुष्ट मनोरंजन के तथ्य भी स्वभावतः संचालित हो गए हैं। कथाओं के माध्यम से वे अपने धर्म सम्प्रदाय और दर्शन के जय का डिण्डिम घोष भी करते रहे। इन प्राकृत कथाओं का लक्ष्य हुआ कर्ममल से मानव की मुक्ति और जीवन की उदारता के बल पर ईश्वरत्व में उसकी चरम परिणति या मोक्ष की उपलब्धि।

जैनागम के बारहवें श्रतांग दृष्टिवाद के पाँच भेदों में से एक भेद प्रथमानुयोग है जिसमें अरहन्त तथा चक्रवर्ती आदि महापुरुषों का चरित्र वर्णन किया गया है। यही जैन कथा साहित्य का आदि स्रोत माना जाता है। जैनाचार्यों ने महापुरुषों की कथा प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत तीनों भाषाओं में लिखी है। धर्मोपदेश के निमित्त लघुकथाओं का उपदेश श्रमण परम्परा में बहुत प्राचीन है। द्वादशांग आगम के रामायण कथाओं में इसका एक रूप यह देखा जाता है कि एकाध गाथा में कोई उपदेशात्मक बात कही और उसके साथ ही उसके दृष्टान्तरूप उस नियम को अपने जीवन में चरितार्थ करने वाले व्यक्ति के जीवन का वृत्तान्त गद्य या पद्य में कह दिया। यही प्रणाली पाली की भी जातक कथाओं में पाई जाती है। संस्कृत के हितोपदेश, पंचतन्त्र आदि लघुकथात्मक ग्रन्थों की भी यही शैली है।

जैन कथा साहित्य अपनी उत्कृष्ट सीमा पर उन रचनाओं में दिखाई देता है जो मुख्यतः गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू काव्य के रूप में लिखी गई है। इनमें प्राचीन ग्रन्थ है वसुदेव हिण्डीजो सौ लम्बकों में पूरा हुआ है।

वेदान्तोत्तर तथा आगमोत्तर काल में गुणाढ्य की बड़ू कहा से बढ़कर अद्भुत और अपूर्व दूसरी कोई कथावस्तु नहीं मिलती। अतएव श्रमण परम्परा के प्राकृत और संस्कृत कथाकार सबने समान रूप से वृहत्कथा के कथानक को अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा और श्रमसाधना तथा रचना प्रक्रिया के द्वारा साम्प्रदायिक चेतना या युगानुकूलता को ध्यान में रखते हुए पल्लवित किया और इस प्रकार वृहत् कथा की परम्परा चलती रही। कथाकारों की यह प्रवृत्ति लोकवृत्ति थी। डॉ. जगदीश चन्द्र जैन ने ठीक ही इंगित किया है यह लोकवृत्ति केवल संघदासगणि वाचक की महत् कृति ‘वसुदेव हिण्डी’ में ही नहीं मिलती, अपितु परवर्ती जैन कथाकारों में भी मिलती है। इससे यह स्पष्ट है कि वृहत् कथा स्वायत्त महत्त्व को आयत्त करता है दोनों की मूलध्वनि प्रेमाख्यान की ही है जहाँ प्रेम, धर्म और शौर्य का मिला-जुला रूप रहता है।

जहाँ तक बौद्ध धारा की आख्यान परम्परा और उसके प्रयोजन का सम्बन्ध है पालि साहित्य समग्र धार्मिक साहित्य है। त्रिपिटक के सुत्तपिटक के अन्तर्गत पाँच निकायों में से एक है खुदक निकाय। इसमें थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक का समावेश तो है ही अपादान या आवदान का भी एक अंश है जिसमें थेरापदान तथा थेरी अपदान जैसे दो भाग हैं। इसे प्रेरणा या थेरी गाथा का पूरक ग्रन्थ कह सकते हैं। जातक शास्ता द्वारा बुद्धत्वोपलब्धि के बाद जाति-स्मृति होने के कारण पूर्व भाव की कथाएँ भिक्षुओं को सुनाई गई हैं, जो उपदेशपरक हैं। इसे लोककथाओं का संग्रह भी कहा जा सकता है। वेस्सन्तर जातक को ही लेंडिसमें रिशिशे देश के राजा वेस्सन्तर के त्यागमय जीवन का वर्णन है।

इस प्रकार ब्राह्मण एवं श्रमण परम्परा की निगम-आगम-मूलक धारा के साथ लोक परम्परा के आख्यानों की भी एक सुदीर्घ परम्परा है जिनके साक्ष्य पर आख्यान

का स्वरूप निर्धारित किया गया है। प्रयोजन धार्मिक उपदेश के साथ लोकरंजन भी है। वैदिक या ब्राह्मण परम्परा कामाचार त्यागपूर्वक शास्त्राचार स्वीकार कर सम्पूर्ण जीवन जीने का पक्षधर है। फलतः वह प्रवृत्तिमार्गी है, वह सामान्यतया फलदाता और सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार करती है। श्रमणमार्ग के पंचमटाब्रत जैसा कठोर तथा आचार-विचार वह दसोन्मुक्ति संयम यहाँ नहीं है। शाप और वरदान भी कभी-कभी व्यक्तिगत मानापमानवश हो जाता है। श्रमण परम्परा निवृत्तिमुखी होने से यह सब नहीं अपनाती। मुक्ति दोनों का लक्ष्य है और वह निगमागम सम्भव विधि-निषेध को स्वीकार करने पर ही सम्भव है। अतः दोनों मार्गों के आख्यान अपने-अपने ढंग के उपदेशपर्यवसी हैं। लोककथाएँ भी इनके हाथ पड़कर धार्मिक और नैतिक रूप अख्तियार कर लेती हैं। बौद्धधारा की अपेक्षा जैनधारा के आख्यान वैदिक परम्परा के राम-कृष्ण आदि नायकों को कर्ता की अपेक्षा कर्मी रूप में प्रस्तुत कर उन्हें अपनी धारा में दीक्षित करा देते हैं। इस तरह यह अपनी परम्परा की जय का डिण्डिमघोष करने लगता है। समुद्री मार्ग से इन आख्यानों ने विश्व की यात्रा कर अपने पद चिह्न सर्वत्र छोड़े हैं।

भारतीय सन्दर्भ में उच्च शिक्षा एवं अनुसंधान

दिनेश मणि*

सामान्य शिक्षा विशेष रूप से उच्च शिक्षा, सामाजिक परिवर्तन तथा राष्ट्रीय विकास का महत्वपूर्ण उपकरण है। राष्ट्रीय विकास में शिक्षा का योगदान मुख्यतया पाठ्य-सामग्री की गुणवत्ता शिक्षा माध्यम तथा शिक्षा की प्रतिभा पर निर्भर करता है। शिक्षा की बात करते हुए इस बिन्दु पर बल देना होगा कि वास्तविक शिक्षा त्रिआयामी होती है और इसके द्वारा शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति होना आवश्यक है। लेकिन दुख के साथ कहना पड़ता है कि 'आत्मा की संस्कृति' वाला जो तीसरा आयाम है उसका हमारे शैक्षिक तंत्र में अभाव है। इस आयाम पर हमें विशेष ध्यान देना होगा, जो पूर्व की, भारत की प्राचीन पारम्परिक विशेषता रही है।

शिक्षा का परम उद्देश्य व्यष्टि और समष्टि के व्यक्तित्व का विकास है। व्यक्तित्व पर्यावरण से प्रभावित होता है जिसमें घर तथा शिक्षालय सभी आ जाते हैं। जीवन की सम्पूर्ण जीवनचर्या को यदि एक शब्द में अभिव्यक्त किया जाए तो वह शब्द है संस्कृति। संस्कृति में प्राचीन-अर्वाचीन परम्पराएँ तथा विविध कार्यकलाप सम्मिलित हैं। यँ तो संस्कृति का आशय कई संकल्पनाओं से है लेकिन शिक्षा के प्रसंग में इसका अर्थ उच्च बौद्धिक व कलात्मक उत्कृष्टता और अपनी भाषाओं समाज तथा देश के प्रति उदात्त प्रेम से भी है।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली की ऐतिहासिकी पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि 18वीं शताब्दी के अन्त में भारत ने अपनी शिक्षा प्रणाली को सुव्यवस्थित कर लिया था। ब्रिटिश शासकों ने 1835 में शिक्षा सम्बन्धी प्रथम नीति की घोषणा की थी। उसके पश्चात् 1854 में 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' की विज्ञप्ति जारी की गई जो वुड की टिप्पणी के नाम से जानी जाती है। ब्रिटिश सरकार की शिक्षा नीति का उद्देश्य औपनिवेशिक एवं साम्राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति करना था।

* डॉ. दिनेश मणि, डी. एस.सी., पूर्व सम्पादक, 'विज्ञान' मासिक पत्रिका। पता : 47/29, जवाहरलाल नेहरू रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद-211002 (उ.प्र.)

स्वतन्त्र भारत में 1948 में सर्वपल्ली राधाकृष्णन की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की नियुक्ति के साथ शिक्षा प्रणाली के पुनर्गठन का कार्य प्रारम्भ हो गया। 1950 में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने इस आयोग की रिपोर्ट पर विचार किया। 1950 में भारतीय संविधान लागू होने और 1951 में राष्ट्रव्यापी आर्थिक एवं सामाजिक आयोजन शुरू होने पर पं. जवाहरलाल नेहरू ने अनुभव किया कि शिक्षा प्रणाली के ढाँचे, लक्ष्यों, पाठ्यक्रमों, प्रक्रियाओं तथा संरचना आदि में कई मूलभूत परिवर्तनों की जरूरत है।

उच्च शिक्षा का जो स्वरूप आज हमारे सामने है उसमें उच्चता का तात्पर्य प्रायः माध्यमिक स्तर से ऊपर की शिक्षा से ही होता है। माध्यमिक शिक्षा को ही क्यों मापदण्ड माना गया और उसके ऊपर वाली शिक्षा को ही क्यों उच्च शिक्षा का नाम दिया गया? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमें उच्च शिक्षा के वास्तविक उद्देश्यों को ध्यान में रखना होगा।

उच्च शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं? विश्वविद्यालयों या महाविद्यालयों की स्थापना क्यों की जाती है? इस विषय में विश्वभर के विचारक प्रायः एकमत हैं कि उच्च शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य “ज्ञान के उस उदात्त रूप का अन्वेषण करना है जिससे मानव संस्कृति के प्रत्येक क्षेत्र में विकास और उन्नति हो सके।” अर्थात् उच्च शिक्षा में ज्ञान का अन्वेषण तथा सांस्कृतिक उदात्तीकरण ये दो महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हैं। प्राचीन परम्परा में ज्ञान प्राप्ति को दो कारणों से महत्त्व दिया जाता रहा है प्रथमतः ज्ञान अपने में ही लक्ष्य है। ‘ज्ञान ज्ञान के लिए’ का सिद्धान्त इसी धारणा की ओर संकेत करता है। दूसरे, ज्ञानी व्यक्ति को समाज में अधिक आदर की दृष्टि से देखा जाता रहा है। लेकिन अब ज्ञान विषयक इस धारणा में परिवर्तन हो रहा है, जिससे उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी कुछ नवीन प्रवृत्तियाँ विकसित हो रही हैं। इनमें सबसे अधिक प्रभावशाली प्रवृत्ति है अन्वेषण प्रक्रिया में साधन एवं साध्यों में संश्लेषण प्रदान करने के लिए ज्ञान की उपयोगिता।

आज विभिन्न शोध-उपाधियों से विभूषित अनेक छात्र जीविका की खोज में भटकते दिखाई देते हैं। अपने विषय में विशेषता हासिल कर लेने के पश्चात भी उन्हें उस ज्ञान का उपयोग करने के लिए कोई अवसर नहीं मिल पाता। फलस्वरूप ये छात्र जीविकोपार्जन की तलाश में विभिन्न सरकारी/अर्द्धसरकारी या गैर-सरकारी नौकरियों की प्रतियोगिता परीक्षाओं की तैयारी में जुटे रहते हैं। इनमें से केवल कुछ ही सफल हो पाते हैं। शेष की दशा आप स्वयं समझ सकते हैं।

यह तथ्य भी कुछ हद तक सत्य है कि वर्तमान समय में शोध छात्रों का ध्येय उपाधि प्राप्त कर लेना मात्र है और उनका शोध कार्य अधूरे मन से उस समय तक जारी रहता है जब तक उन्हें नौकरी नहीं मिल जाती। ज्यों ही नौकरी मिल जाती है उनके शोध-कार्य पर प्रतिबन्ध लग जाता है। आप खुद ही सोच सकते हैं कि ऐसी

स्थिति में (जल्दबाजी में) अधूरे शोध कार्य को थीसिस रूप में परिवर्तित करने में कितनी असंगतता रह जाती होगी।

कुछ हद तक शोध-छात्र का यह कोई विशेष दोष नहीं भी कहा जा सकता है क्योंकि आज के शैक्षिक वातावरण के प्रभाव से कोई छात्र कैसे अछूता रह सकता है? खुशामद, घूसखोरी तथा अन्य अनियमितताओं की स्थिति में सौभाग्यवश यदि किसी शोध-छात्र को कोई नौकरी मिल जाती है (जिसे कई अन्य लोग हस्तगत करने की फिराक में रहते हैं) तो उसे गँवाना कहाँ की बुद्धिमत्ता होगी?

एक समय था जब अनुसंधान के इच्छुक छात्र-छात्राएँ किसी विद्वान विशेषज्ञ के पास उसकी विद्या का कुछ अंश सीखने की इच्छा से जाते थे किन्तु अब वे केवल आजीविका के लिए, उपाधि अर्जित करने के लिए सस्ते में उपाधि देनेवाले किसी अध्यापक के पास आने लगे हैं। पहले शोधकर्ता अपने गुरु के नाम से जाने जाते थे। अब इसका कोई सवाल ही नहीं रहा। अब ऐसी स्थिति में उच्च स्तर के वैज्ञानिकों और वैज्ञानिक शोधों की क्या आशा की जा सकती है।

वास्तव में उच्च शिक्षा सम्बन्धी व्यावसायिक आधार नियमों की न तो कोई लिपिबद्ध संहिता है और न ही इसकी कोई आवश्यकता है। आमतौर पर इन आचार नियमों का अनुपालन स्थापित मूल्यों, अलिखित परम्पराओं तथा अधिकांश रूप से व्यवसाय में स्थापित विशिष्ट व्यक्तियों के आचरण अनुसरण के माध्यम से होता है। अध्यापन मात्र व्यवसाय नहीं है। कम-से-कम उच्च स्तर पर यह एक निष्ठापूर्ण कार्य है। शिक्षक का चयन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिस पर शिक्षा का स्तर निर्भर करता है। शिक्षा के क्षेत्र में हम जैसे-जैसे नीचे से ऊपर की ओर बढ़ते हैं शिक्षक और विद्यार्थी के बीच सम्बन्ध और अन्तःक्रिया का दायरा भी बढ़ जाता है। इसलिए उच्च शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षक के कर्तव्य का औपचारिक परिसीमन सम्भव नहीं होता।

उच्च शिक्षा में शैक्षिक वातावरण को सुदृढ़ करने के लिए शोध गतिविधि अनिवार्य है क्योंकि इसी से मिलने वाले ‘इनपुट’ से ही शिक्षा स्तर बेहतर बनता है। शोध-कार्य में संलग्न शिक्षक अपनी सृजनात्मकता के द्वारा छात्रों को उनके समग्र विकास के लिए भी प्रोत्साहित कर पाते हैं किन्तु आज विश्वविद्यालयी शिक्षा की यह धारणा तेजी से विलुप्त हो रही है। निःसन्देह इसका दोष देश के विश्वविद्यालयों को ही दिया जाना चाहिए। इसके लिए जो परिस्थितियाँ जिम्मेदार हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं

1. विश्वविद्यालयों में अध्यापन तथा अनुसंधान करने-कराने के लिए केवल एक ही वर्ग उत्तरदायी है, और वह है अध्यापक वर्ग। प्रायः अध्यापन की कालावधि के अनुसार वरिष्ठ प्राध्यापकों के अनुसंधान-निर्देशन का कार्य सौंप दिया जाता है, चाहे उस क्षेत्र में उनका अपना कोई अनुभव न हो। दूसरी ओर ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ अध्यापकों का महत्त्व उनके अनुसंधान कार्य से आँका जाता है, और वे अध्यापन

कार्य की अवहेलना करने लगते हैं। साथ ही अनुसंधान के प्रति अधिक उत्साह के कारण बहुत-सा ऐसा कार्य भी प्रकाश में आ रहा है जो निम्न स्तर का है।

2. विश्वविद्यालयों में अनुसंधान करने की अनुमति प्रायः उन्हीं विद्यार्थियों को मिलती है जिनका पिछला परीक्षाफल कम-से-कम द्वितीय श्रेणी (55%) का रहा हो। यहाँ यह मान्यता है कि अच्छा विद्यार्थी ही अच्छा अनुसंधानकर्ता हो सकता है। पर यह सभी जानते हैं कि परीक्षा में उच्च स्थान पाना और अनुसंधान करना अलग-अलग प्रकार की योग्यताओं पर निर्भर करता है और हमारी परीक्षा प्रणाली जिस प्रकार की है उसमें तो खोज, नवीनता और विचार जैसी प्रवृत्तियों की कम ही गुंजाइश रहती है।

3. कुछ विश्वविद्यालयों को छोड़कर अनुसंधान कार्य में प्रवृत्त होने के पूर्व कोई उपयोगी पाठ्यक्रम आवश्यक रूप में निर्धारित नहीं, जिससे अनुसंधान की विधा में प्रारम्भिक प्रशिक्षण दिया जा सके। प्रायः अनुसंधानकर्ता अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है, बिना यह जाने और सीखे कि अनुसंधान की विधियाँ, प्रविधियाँ, तकनीकी अपेक्षाएँ और नियम क्या हैं?

4. विश्वविद्यालयों में अलग से कोई ऐसा संगठन या समिति नहीं जो अनुसंधान कार्य की व्यवस्था संघटन और कार्यक्रमों की देख-रेख कर सके और इस विषय में आगे के विकास के लिए नीति निर्धारित करे। अनुसंधानकर्ताओं की देखभाल तथा उनकी समस्याओं एवं असुविधाओं का निराकरण भी इनके द्वारा हो सकता है।

5. हमारे विश्वविद्यालयों में अधिकांश अनुसंधान कार्य व्यक्तिगत होता है। एक व्यक्ति की अपनी सीमाएँ होती हैं। वह किसी समस्या के सभी पक्षों का समान रूप से अध्ययन परीक्षण नहीं कर सकता और न वह समस्या को व्यापक रूप से निरूपित ही कर पाता है। इस समस्या के समाधान के लिए सामूहिक अनुसंधान-कार्यक्रम तथा विकासत्मक अनुसंधान कार्यक्रम का सुझाव दिया जाता है। प्रथम के अन्तर्गत एक ही विषय के विभिन्न पक्षों में दक्ष विद्वान सामूहिक रूप से समस्या का अध्ययन करते हैं। दूसरे में एक ही समस्या को विभिन्न विकास स्तरों पर पूरी समग्रता से निरूपित किया जाता है। हमारे विश्वविद्यालयों में इन प्रयोगों की ओर अभी ध्यान नहीं दिया गया है।

6. अनुसंधान की व्यावहारिक उपयोगिता की ओर भी बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। भारत में बहुत से शोध प्रबन्ध केवल अलमारियों में पड़े रह जाते हैं। कारण यह है कि अधिकांश समस्याएँ अथवा शोध विषय वैचारिक होते हैं, साक्षात् परिवेश से नहीं चुने जाते और जीवन की आवश्यकताओं से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं होता।

इस स्थिति के सम्भाव्य कारणों पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि विश्वविद्यालयों में मेरिट प्रमोशन की नीति इसका एक मुख्य कारण है। इस नीति में गुणवत्ता का कोई निर्णायक महत्त्व नहीं होता। विश्वविद्यालय शिक्षक एक निश्चित

अवधि तक प्रतीक्षा करते हैं उसके बाद प्रकाशित शोध पत्रों की संख्या और उनके निर्देशन में सम्पन्न पी-एच.डी. की संख्या के आधार पर उनकी योग्यता के बारे में फैसला किया जाता है। अधिकांश विश्वविद्यालयों में शोध-पत्रों की गुणवत्ता नहीं बल्कि उनकी संख्या ही प्रमुख कसौटी होती है। इसकी वजह से आज कई सारी निजी शोध पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी हैं। इनका मुख्य उद्देश्य विषय में जुटे अन्य शोधकर्ताओं के साथ विचार-विमर्श नहीं, बल्कि पैसा कमाना होता है। यदि आप प्रकाशन शुल्क दे सकते हैं तो आपका पत्र तत्काल छप जाएगा।

विश्वविद्यालयों में शोध के लिए अनुकूल वातावरण न बन पाने का एक कारण मूलभूत सुविधाओं का अभाव भी है। विश्वविद्यालय गम्भीर वित्तीय संकट का सामना कर रहे हैं। उन्हें मिलने वाले पैसे में से एक बड़ा हिस्सा तो वेतन में ही चला जाता है, बाकी बचा छोटा-सा हिस्सा जो शिक्षण सुविधा जुटाने के लिए भी पर्याप्त नहीं होता। फलस्वरूप अनुसंधान सहायता को लम्बित रखा गया है। विश्वविद्यालयों में जो थोड़े से लोग अच्छा शोध करना चाहते हैं उन्हें भी यहाँ से समर्थन नहीं मिल पा रहा है। यह भी हो सकता है कि ऐसे लोग योग्यता भी रखते हों किन्तु वे इस वातावरण से लड़ने में असमर्थ हैं और अन्ततः घटिया शोध के सामने घुटने टेक देते हैं ताकि कम-से-कम प्रमोशन के रास्ते तो खुले रहें। इस तरह से विश्वविद्यालय अच्छे और योग्य शोधकर्ता गवाँ रहे हैं।

उपर्युक्त स्थिति से निपटने के लिए निम्न सुझाव सार्थक हो सकते हैं

1. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने पहले यह फैसला किया था कि विश्वविद्यालयों में पद व वित्तीय सहायता मंजूर करने से पूर्व अकादमिक प्रगति की समीक्षा की जाएगी। इस समीक्षा में शिक्षा व शोध दोनों की गतिविधियों का मूल्यांकन करने की बात थी। यह समीक्षा एक बाह्य समिति द्वारा किया जाना तय हुआ था। यह प्रथा काफी समय से बन्द है। इसे शुरू करने का समय आ गया है क्योंकि इसकी वजह से विभागों पर अपनी गुणवत्ता में सुधार करने का दबाव पड़ेगा। इससे अनुसंधानों को प्रोत्साहन मिलेगा।

2. विश्वविद्यालयों व राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के बीच निकट सम्पर्क बनाना चाहिए। यह दोनों के लिए लाभदायक होगा। विश्वविद्यालय के शिक्षक राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं की सुविधाओं का उपयोग कर सकेंगे और प्रयोगशाला के वैज्ञानिक शिक्षण कार्य में भाग ले सकेंगे। इससे छात्रों को लाभ होगा तथा वैज्ञानिकों को प्रतिभाशाली छात्रों के सम्पर्क में आने का अवसर मिलेगा।

With Best Compliments
from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.
Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,
New Delhi-110002. Phone Off. 3277883, 3711848

भारतीय पुलिस व्यवस्था : प्रबन्ध, कमी एवं सीमाएँ

एन. के. सिंह*

व्यवस्था

सामान्य अवधारणा

निस्सन्देह भारतीय पुलिस ने अपने विभिन्न कार्य-क्षेत्रों, कार्य-संस्कृति और सेवा-व्यवस्था में सालो-साल गुणात्मक विकास किया है। उदाहरण के लिए एक-दो दशक पूर्व पुलिस-प्रशिक्षण का जो स्तर था उससे आज काफी अधिक सन्तोषप्रद है। अपराध की जाँच और छानबीन का कार्य तथा इसकी कार्य-विधियों में बहुत परिवर्तन आया है, और ये अपेक्षाकृत आधुनिक और वैज्ञानिक हो गए हैं। इसके उपकरण, सम्पर्क संजाल, यातायात व्यवस्था ज्यादा बेहतर हुए हैं। समूचे भारत में आपराधिक आँकड़े, सूचनाएँ और फिंगरप्रिण्ट कम्प्यूटराइज्ड हो गए हैं, सीमा पुलिस अपेक्षाकृत व्यवस्थित, सुसंगठित और सुनिर्देशित है। समूह व्यवस्था के कार्य बहुत ज्यादा परिष्कृत और व्यवस्थित हुए हैं। इसका सूचना तन्त्र काफी विकसित और विश्वसनीय व्यवस्था के रूप में उभरा है। इण्टेलिजेन्स ब्यूरो, सेण्ट्रल ब्यूरो ऑव इनवेस्टिगेशन, बोर्डर सिक्क्यूरिटी फोर्स जैसे संगठन तथा हैदराबाद स्थित नेशनल पुलिस एकेडमी जैसे प्रशिक्षण संस्थान विश्व की श्रेष्ठ संस्थाओं से तुलनीय हैं। एशिया, अफ्रीका और यहाँ तक कि कुछ पश्चिमी देशों के पुलिस अधिकारी भी यहाँ आधारभूत एवं विशेष प्रशिक्षण के लिए आते हैं तथा आतंकवाद, नारकोटिक्स एवं ड्रग-व्यापार के खिलाफ

* श्री एन. के. सिंह, भारतीय पुलिस सेवा (सेवानिवृत्त), सी.बी.आई. के पूर्व संयुक्त निदेशक तथा ब्यूरो ऑव पुलिस रिसर्च एण्ड डेवलपमेण्ट के पूर्व महानिदेशक हैं। उनकी प्रकाशित पुस्तकें हैं **खरा सत्य (द प्लेन टूथ)** एवं **अपराध एवं भ्रष्टाचार की राजनीति (क्राइम एण्ड करप्शन)**। पुलिस सेवा में रहते हुए तथा उसके बाद भी भ्रष्टाचार के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष के लिए उन्हें रोटरी इण्टरनेशनल के मानव सेवा पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया है।

(**डॉयलॉग, खण्ड-6, सं. 1, 2004 में प्रकाशित अंग्रेजी लेख** का हिन्दी अनुवाद, अनुवादक : देवेन्द्र कुमार देवेश, डी-3, 1/22, सेक्टर-5 राजेन्द्र नगर, साहिबाबाद, गाजियाबाद)

विश्व-स्तरीय कार्रवाइयों में हमारे साथ सहयोगी भूमिका निभाते हैं।

लेकिन उपर्युक्त विशेषताओं के बावजूद, भारत की आजादी के 57 वर्षों तथा संविधान के लागू होने के 55 वर्ष बाद भी हमारे संविधान की एक आधारभूत नियम-व्यवस्था होने के बावजूद दुर्भाग्य से आज भी इसे बहुत अच्छी व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। हमारे सुरक्षा बल अभी भी अधिकांश जन-समुदायों का विश्वास और आदर पा सकने में असफल हो रहे हैं। अभी भी यह काफी तिरस्कृत हैं तथा लोगों को विश्वास पाने में ये पूर्ण नहीं हो पाए हैं। लेकिन उक्त सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि संसद या न्यायपालिका और समूची आपराधिक न्याय-व्यवस्था (पुलिस-प्रशासन जिसका एक अंगमात्र है) सहित सरकार की कोई भी एजेंसी या सांविधानिक संस्था अच्छी हालत में नहीं है। कुछ साल पहले उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश ने दुःख प्रकट करते हुए कहा था कि देश भर के 40 प्रतिशत न्यायाधीश भ्रष्ट हैं। 26 नवम्बर 1985 को कानून दिवस के अवसर पर अपने भाषण में तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश पी. एन. भगवती ने कहा था, “मुझे यह देखकर दुःख होता है कि न्याय-व्यवस्था प्रायः विनाश के कगार पर है। ये बहुत कड़ी शब्दावली है, जिसका मैं प्रयोग कर रहा हूँ और ऐसा कहते हुए मुझे बहुत वेदना हो रही है।”

भारतीय पुलिस की संरचना और आधार

पुलिस-प्रबन्धन पर बात करने से पहले उचित होगा कि पहले हम भारत में पुलिस की संरचना एवं आधार तथा उस सांविधानिक एवं कानूनी कार्य-प्रारूप से परिचित हो लें, जिसके अन्तर्गत इसका कार्य-व्यवहार निर्धारित है। भारत अनेक राज्यों और संघशासित प्रदेशों के संघ-राज्य सदृश है। संविधान की सातवीं अनुसूची के अनुसार :

‘पुलिस प्रशासन’ राज्य का विषय है। देश में कुल पुलिसकर्मियों की संख्या 20 लाख के आस-पास है, जिसका अधिकांश राज्यों के अधीन है। इसलिए राज्य पुलिस बल देश की पुलिस व्यवस्था के मुख्य आधार हैं।

पुलिस संगठन में पद और प्रशासनिक संरचना पिरामिड की तरह है। 1861 के पुलिस अधिनियम के अन्तर्गत कार्य करनेवाले अधिकांश राज्य पुलिस का नेतृत्व पुलिस महानिदेशक द्वारा होता है, जो राज्य भर में पुलिस प्रशासन के लिए राज्य सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है तथा पुलिस मामलों में सलाहकार का भी कार्य करता है। राज्य जिलों में विभाजित हैं, जहाँ पुलिस अधीक्षक होते हैं। एक क्षेत्र के कुछ जिलों का समूह पुलिस उप महानिरीक्षक की देख-रेख में होता है। कुछ बड़े राज्यों में दो या अधिक क्षेत्रों को मिलाकर पुलिस जोन बनाए गए हैं, जिनके प्रधान पुलिस महानिरीक्षक होते हैं। आज पुलिस महानिदेशक सबसे बड़ा पद है।

पुलिस प्रशासन पूरी तरह से जिला दण्डाधिकारी के स्थानीय न्याय-क्षेत्र में

आता है, ऐसे जिला अधीक्षक और सहायक/उप अधीक्षक के समान्य नियन्त्रण और निर्देश के अन्तर्गत, जिन्हें राज्य सरकार आवश्यक रूप से ऐसे दण्डाधिकारी के रूप में अधिकृत करती है। प्रत्येक जिला सब-डिविजनों में विभाजित है, जिनके प्रभारी सहायक या उप पुलिस अधीक्षक होते हैं। समान्यतया ये सब-डिविजल पुलिस-सर्कल में विभाजित हैं, जिनके प्रभारी निरीक्षक होते हैं। ये सर्कल अनेक पुलिस थानों में बँटे हुए हैं, जिनके अन्तर्गत शहरी/ग्रामीण चौकियाँ हैं।

पुलिस थाना पुलिस प्रशासन की आधारभूत इकाई है। यह अपराध अनुसन्धान केन्द्र है और आपराधिक दण्ड संहिता के अन्तर्गत यहाँ सभी अपराध अभिलेखित होते हैं तथा यहीं से बचाव, छानबीन और कानूनी अनुपालन सम्बन्धी पुलिस कार्रवाइयाँ संचालित होती हैं। जिला पुलिस प्रशासन की प्रमुख विशेषता द्वैध नियन्त्रण की प्रणाली है। कानूनी कार्य-प्रारूप, जिसके अन्तर्गत पुलिस-व्यवस्था संचालित है, वह 1861 का पुलिस अधिनियम है। इस अधिनियम के खंड 4 के अनुसार जिले का पुलिस प्रशासन जिला पुलिस अधीक्षक द्वारा जिला मजिस्ट्रेट के ‘सामान्य नियन्त्रण एवं निर्देशों’ के अधीन संचालित होता है। इस प्रावधान के फलस्वरूप जिले की पुलिस जिला मजिस्ट्रेट से निकटता से सम्बद्ध रहती है, जो जिला के मुख्य कार्यपालक के रूप में कार्य करता है। बहुत से राज्य मैनुअलों में, जिला मजिस्ट्रेट जिले के आपराधिक मामलों में प्रशासन के मुखिया के रूप में सन्दर्भित है। इसके परिणामस्वरूप पुलिस-कार्य-प्रणाली द्वैध नियन्त्रण वाली हो गई है।

दिल्ली, कोलकाता, चैन्नै और मुम्बई जैसे महानगरों तथा हैदराबाद, अहमदाबाद, बड़ौदा, बंगलौर, पुणे, नागपुर जैसे बड़े नगरों में वहाँ की पुलिस व्यवस्था पुलिस आयुक्त के अधीन है, जिसे संयुक्त पुलिस आयुक्त, अतिरिक्त पुलिस आयुक्त, उप एवं सहायक पुलिस आयुक्त का सहयोग मिलता है। उसे अनेक नियंत्रक, लाइसेंसिंग तथा यहाँ तक कि मजिस्ट्रेट के अधिकार भी प्रदान किए गए हैं। जिलों के विपरीत यहाँ शासन-शृंखला एक ही है।

सभी राज्यों में अपराध जाँच विभाग, खुदिया विभाग, प्रशिक्षण एवं आधुनिकीकरण प्रभाग हैं। राज्यों के अन्दर रेलवे में पुलिस राज्य सरकारों की जिम्मेदारी है और इनके लिए सरकारी रेलवे पुलिस है।

संविधान के अनुच्छेद 246 की 7वीं अनुसूची के अनुसार ‘पुलिस’ एवं जन-प्रशासन (पब्लिक ऑर्डर), राज्य-सूची में है, जबकि केन्द्रीय गुप्तकर एवं जाँच ब्यूरो संघ-सूची में हैं। पुलिस अधिकारियों के प्रशिक्षण, अपराध की जाँच या छानबीन में वैज्ञानिक अथवा तकनीकी सहायता, किसी राज्य के पुलिसकर्मियों के अधिकार क्षेत्र और अन्य शक्तियों का विस्तार जैसे विषय भी संघ-सूची में हैं। इस प्रकार राज्यों के मध्य परस्पर सहयोग, सी. बी. आई. द्वारा अनुसन्धान, पुलिस प्रशिक्षण और वैज्ञानिक अनुसन्धान और सूचना संग्रहण के लिए केन्द्र सरकार पूरी तरह जिम्मेदार है। पुलिस प्रशिक्षण,

शोध और आधुनिकीकरण के क्षेत्र में किए जा रहे केन्द्र सरकार के कार्यों में सहयोग के लिए ब्यूरो ऑफ पुलिस रिसर्च एण्ड डेवलपमेंट नामक संस्था है जो पुलिस-प्रबन्धन की समस्याओं का व्यवस्थित अध्ययन करती है तथा केन्द्र और राज्य में पुलिस बल के प्रशिक्षण और कार्यक्रमों में सुधार और विकास तथा पुलिस-कार्यों में विज्ञान और तकनीक के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए उत्तरदायी है। संविधान की सातवीं अनुसूची की सूची 1 की प्रविष्टि 2 और 2-अ के अन्तर्गत राज्य की सहायता और सीमा सुरक्षा के लिए केन्द्र सरकार सीमा सुरक्षा बल या केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल जैसे सशस्त्र बलों का निर्वहन करती है।

राज्य और केन्द्र दोनों स्तरों के पुलिस संगठनों में मोटा-मोटी निम्नांकित तीन पदों पर भर्ती की जाती है (1) सिपाही, (2) सब-इन्स्पेक्टर और (3) सहायक कमाण्डेण्ट एवं उप अधीक्षक। आईपीएस अधिकारी, जिनसे राज्य और केन्द्र पुलिस संगठनों में पुलिस बल के नेतृत्व की उम्मीद की जाती है, की भर्ती और प्रशिक्षण भारत सरकार द्वारा किए जाते हैं। यह सेवा अखिल भारतीय सेवा के रूप में जानी जाती है।

ब्रिटिश मॉडल : कुछ अन्तर

भारत में पुलिस-प्रबन्ध के रूप, संरचना और कानूनी ढाँचे का जो वर्णन ऊपर किया गया है, वह ज्यादातर वैसा ही है, जैसा आजादी के समय ब्रिटिश हमें सौंप गए थे। पर यह उससे भिन्न है, जो उनका अपने लिए है। यद्यपि उनकी सरकार एक संघीय सरकार है, तथापि उनकी पुलिस-प्रणाली विकेन्द्रित, विस्तृत और प्रातिनिधिक चरित्र की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसके भीतर आन्तरिक नियन्त्रण और सन्तुलन हैं, लेकिन केन्द्र सरकार बजट और वित्तीय अनुदान तथा कड़े निरीक्षणों के माध्यम से उस पर नियन्त्रण रखती है। अपराध-उन्मूलन और अपराध से बचाव तथा खोजबीन के कार्यों में पुलिस-प्रणाली काफी स्वायत्त है और कानून एवं जनता के प्रति उत्तरदायी है। इसके कार्य-व्यापार में शासन की इकहरी शृंखला स्पष्ट है। वहाँ समुदायों और पुलिस के बेहतर सम्बन्धों पर बहुत ज्यादा जोर दिया गया है, यही कारण है कि ब्रिटिश पुलिस अधिकारी लोकप्रिय हैं और समुदायों के आदर एवं विश्वास के पात्र हैं। पुलिस बल के लिए वहाँ स्पष्ट कार्यदिश्य हैं।

लन्दन के मेट्रोपोलिटन पुलिस प्रमुख, जो स्थानीय प्राधिकरण के प्रति नहीं, वरन केन्द्र सरकार के गृहसचिव के प्रति जवाबदेह है, को छोड़कर इंग्लैण्ड और वेल्स का पुलिस संगठन अलग-अलग पुलिस बल परिक्षेत्रों के आधार पर स्थानीय तौर पर संघटित है। लेकिन स्कॉटलैण्ड यार्ड अलग से स्थापित है। प्रत्येक श्रेणी बल के लिए एक पुलिस प्राधिकरण है, जिसके दो तिहाई सदस्य स्थानीय पार्षद तथा एक तिहाई न्यायाधिकारी होते हैं। इससे सुनिश्चित होता है कि पुलिस कैसे काम करे। इस सन्दर्भ में पार्षदों के माध्यम से जनता भी अपनी बात रख सकती है। पुलिस बलों के बीच

सक्रिय सामंजस्य और मानकों के निर्धारण में गृहसचिव के माध्यम से केन्द्र सरकार की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। पुलिस बल की शक्तियों को संचालित करने के लिए वह विधि-निर्माण के प्रति भी जवाबदेह होती है। वह पुलिस बल के 51 प्रतिशत वित्तीय मामलों को नियन्त्रित करती है और इस प्रकार पुलिस बल की कार्य-कुशलता को सुनिश्चित करती है। लेकिन गृहसचिव पुलिस द्वारा सम्पादित विभिन्न कार्रवाइयों तथा मामलों के निपटारे की प्रक्रिया में कोई हस्तक्षेप नहीं करता। तथापि मुख्य सिपाहियों के लिए निर्धारित दिशा-निर्देश हैं, कानूनी मामलों और कार्रवाइयों में फैसला प्रमुख पुलिस अधिकारी का अधिकार क्षेत्र है। यद्यपि मुख्य सिपाही पुलिस प्राधिकरण (जिसके सदस्य स्थानीय पार्षद और न्यायाधिकारी होते हैं) द्वारा नियुक्त किया जाता है तथा 49 प्रतिशत बजट उसके द्वारा उपलब्ध कराया जाता है, तथापि वह व्यापक रूप से पुलिस बल पर नियन्त्रण और निर्देशों के लिए स्वतन्त्र होता है। वस्तुतः, स्पष्ट रूप से यह माना जाता है कि एक पुलिस अधिकारी सम्बन्धित कार्यालय का स्वायत्त अधिकारी और वहाँ के कानून का प्रतिनिधि है, न कि किसी अन्य संस्था अथवा सरकार का। वहाँ के जासूसों को जाँच-पड़ताल और निष्पादन की शक्तियाँ पुलिस और अपराध साक्ष्य अधिनियम, 1984 (अद्यतन संशोधित) के अन्तर्गत प्रदान की गई हैं। यहाँ रेजिना बनाम पुलिस आयुक्त, मेट्रोपोलिस एक्स-पार्टे ब्लैकबर्न के प्रसिद्ध मामले में लार्ड डेनिंग की उक्ति को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा, जो (1968) 2 क्यू-बी-118 में वर्णित है

“लेकिन मुझे यह कहने में कोई हिचक नहीं कि स्थान विशेष का प्रत्येक कांस्टेबल, जैसा कि होना चाहिए, कार्य-निष्पादन के लिए स्वतन्त्र है। वह राज्य के सचिव के आदेशों के अधीन नहीं है, सिवाय इसके कि राज्य का सचिव उसे अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के लिए बुला सकता है अथवा उसकी कुशलता को ध्यान में रखते हुए उसे सेवानिवृत्त कर सकता है। मैं किसी प्रमुख नगर के पुलिस आयुक्त का, और इसी भाँति प्रत्येक कांस्टेबल प्रमुख का, यह कर्तव्य मानता हूँ कि वह स्थानविशेष के कानून को लागू करे। अपराध की खोजबीन हेतु अपने व्यक्तियों को निर्दिष्ट करने के लिए वह अवश्य ही कार्रवाई कर सकता है, और जिससे कि ईमानदार नागरिक शान्तिपूर्वक अपने कार्य कर सकें। वह अवश्य ही यह फैसला ले सकता है कि सन्देहास्पद व्यक्तियों का पीछा किया जाए या नहीं और यदि जरूरी है तो उन्हें गिरफ्तार किया जाए या नहीं। लेकिन इन मामलों में वह किसी का नौकर नहीं है, बल्कि कानून की रक्षा करता है। राज्य का कोई मन्त्री उससे यह नहीं पूछ सकता कि उसने किसी व्यक्ति को क्यों गिरफ्तार किया या किसी को क्यों नहीं? न ही पुलिस प्राधिकारी उससे यह पूछ सकता है। वह केवल और केवल कानून के प्रति उत्तरदायी है।”

लेकिन पुलिस बल समाज के अंग के रूप में भी संगठित हैं और यह जरूरी है

कि समाज के साथ उनके सम्बन्ध बेहतर हों, क्योंकि वे उसी की सेवा के लिए हैं। तथापि संयुक्त राज्य (यूनाइटेड किंगडम) में कोई राष्ट्रीय पुलिस बल नहीं है और अकेले इंग्लैण्ड और वेल्स में लन्दन की मेट्रोपोलिटन पुलिस सहित 43 प्रान्तीय पुलिस बल कार्य कर रहे हैं, जिन्होंने प्रशिक्षण और कार्य-कुशलता के उच्च लक्षित मानदण्डों के साथ पुलिस बल को पोषित करने के लिए राष्ट्रीय पुलिस नीति और पुलिस-कार्य-प्रणाली विकसित कर लिए हैं।

कमी एवं सीमाएँ

संवैधानिक संरक्षण और पुलिस

लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान भारतीय नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान करता है, जो न्यायसंगत हैं, जो कानूनी रूप से कार्यान्वित किए जा सकते हैं। उनके जीवन, स्वतन्त्रता और सुविधाओं के अतिक्रमण तथा पुलिस सहित सभी प्रवर्तनकारी तत्त्वों के सन्तापदायी क्रिया-कलापों से यह संविधान उन्हें सुरक्षा प्रदान करता है। अनुच्छेद 20 के अनुसार, उदाहरण स्वरूप, किसी व्यक्ति को अपने ही विरुद्ध गवाही के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। अनुच्छेद 21 इस बात की व्यवस्था करता है कि स्थापित कानूनी प्रावधानों को छोड़कर किसी व्यक्ति को जीवन और उसकी सुविधाओं से वंचित नहीं किया जा सकता। अनुच्छेद 22 के अनुसार गिरफ्तार किए गए किसी व्यक्ति को उसकी गिरफ्तारी से 24 घंटे के भीतर नजदीकी न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत किया जाना जरूरी है। अनुच्छेद 14 यह निर्दिष्ट करता है कि कानून के समक्ष किसी भी तरह की बराबरी और समान कानूनी संरक्षण से राज्य इनकार नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में कानून के सामने हर व्यक्ति समान है। इस सिद्धान्त में अपवाद आया 1950 में, जबकि प्रीवेण्टिव डिटेक्शन एक्ट पारित हुआ, जो अब क्रिमिनेल प्रीवेण्टिव डिटेक्शन एक्ट का रूप बना गया है, यद्यपि अपनी प्रकृति में प्रीवेण्टिव डिटेक्शन लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के प्रतिकूल है। यह कहने की जरूरत नहीं कि देश में पुलिस बल संविधान के इन प्रावधानों से पूर्णतः बंधे हुए हैं।

दण्ड-व्यवस्था

कुछ गौण अधिनियमों को छोड़कर, राज्य और केन्द्र दोनों ही स्तरों पर पुलिस द्वारा अपराध, जो संज्ञेय प्रकृति की है, की छानबीन और निवारण-कार्य भारतीय दण्ड संहिता के अन्तर्गत किए जाने जरूरी हैं। इसमें दण्ड प्रक्रिया संहिता के प्रावधानों के अनुसार कार्य किया जाना जरूरी है, जो मूलतः 1898 में बनाया गया था, लेकिन जिसे 1973 के एक नए अधिनियम में बदल दिया गया है। एक अन्य महत्वपूर्ण अधिनियम 1872 में लागू हुआ था, जो प्रान्त में आपराधिक मामलों के लिए साक्ष्य सम्बन्धी कानूनों को निर्धारित करता है। भारतीय दण्ड संहिता को 1862 में लागू किया गया।

यह संहिता, जो अपराध और दण्ड की आधारभूत परिभाषा करती है, में सालों-साल अनेक परिवर्तन हुए हैं। यह ध्यातव्य है कि कुछ सामाजिक बुराइयाँ, जैसे विवाह से जुड़े अपराधदहेज, हत्या अथवा यौन अपराध ज्यादा गम्भीर हुए हैं और उनमें बढ़ोतरी भी हुई है। इस प्रकार के कुछ अपराधों में, जैसे धारा 304 बी के अन्तर्गत दहेज, हत्या, भ्रष्टाचार निवारक अधिनियम के समान ही अभियुक्त की निर्दोषता के निधारण में विफलता मिली है।

1973 में एक नई दण्ड प्रक्रिया संहिता लागू की गई, पर पुलिस को कठिनाइयाँ कई सन्दर्भों में और भी बढ़ गईं। प्रमुखतया, यह संहिता शीघ्र न्याय के लिए प्रक्रिया को तीव्र करने में कोई सहायता नहीं कर पाई है। अभियुक्त, खासतौर पर जो शक्तिशाली हैं, प्रायः वादात्मक याचिकाएँ दाखिल कर मुकदमों को लम्बा खींचने में सफल हो जाते हैं। नई संहिता की धारा 438 गैर-जमानती अपराधों में अभियुक्त के अग्रिम जमानत की मंजूरी का प्रावधान करती हैं, जो पहले नहीं था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह विचार प्रशंसनीय है, क्योंकि इसमें कमजोर और गरीब लोगों को दुर्भावनापूर्ण पुलिस कार्रवाई अथवा पुलिस और माफिया की मिलीभगत से उत्पन्न स्थितियों से बचाव का प्रावधान है। लेकिन इस प्रावधान का फायदा प्रायः 'चन्द्रस्वामी' और उन जैसों की अपेक्षा समाज के कमजोर वर्ग को नहीं मिल रहा है। बहुतों को जमानत की उदार स्वीकृति प्रायः पुलिस और प्रवर्तनकारी एजेंसियों के लिए समस्याएँ खड़ी करती है। बी. पी. आर. एण्ड डी. द्वारा कुछ वर्ष पूर्व किए गए एक सीमित अध्ययन में यह पाया गया कि गैर-जमानती अपराधों में जमानत पर छोड़े जानेवाले व्यक्तियों की संख्या 77.5 प्रतिशत थी, जिनमें से 6.5 प्रतिशत आपराधिक रिकार्ड वाले व्यक्ति थे। वर्ष 1993 में, तमिलनाडु में गैर-जमानती अपराधों में संलग्न 83.5 प्रतिशत व्यक्तियों को जमानत पर रिहा किया गया था। दिल्ली जैसे मेट्रोपोलिटन नगर में 1993 में गैर-जमानती अपराधों में संलग्न 80.4 प्रतिशत व्यक्तियों को जमानत पर छोड़ा गया था, जिनमें से 123.2 प्रतिशत व्यक्ति आपराधिक रिकार्ड वाले थे।

समाज का एक बड़ा तबका, जिसमें विधि-निर्माता भी शामिल हैं, भारतीय पुलिस पर विश्वास नहीं करता। यूनाइटेड किंगडम सहित दूसरे लोकतान्त्रिक देशों में, पुलिस के समक्ष दिए गए इकबालिया बयानों को प्रमाण रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है पर भारतीय साक्ष्य अधिनियम की धारा 25 के तहत, पुलिस अधिकारी के समक्ष दिए गए किसी भी इकबालिया बयान को अभियुक्त के विरुद्ध प्रमाण माने जाने का निषेध है। दूसरे शब्दों में, किसी पुलिस अधिकारी के समक्ष दिया गया इकबालिया बयान किसी अभियुक्त के विरुद्ध आपराधिक आरोप के निर्धारण में स्वीकार्य नहीं है। लेकिन दूसरी प्रवर्तनकारी एजेंसियों, जैसे आयकर, केन्द्रीय आवकारी, प्रवर्तन निदेशालय, यहाँ तक कि रेलवे सुरक्षा बल के समक्ष दिए गए इकबालिया बयान स्वीकार्य हैं। विधि आयोग और राष्ट्रीय पुलिस आयोग ने 1979 में संस्तुति की

थी कि किसी वरिष्ठ पुलिस अधिकारी के समक्ष दिया गया इकबालिया बयान स्वीकार्य ठहराया जाना चाहिए, लेकिन वह मान्य नहीं हुआ। पुलिस के समक्ष दिए गए इकबालिया बयान को स्वीकार्य ठहरानेवाले कानून की बजाय टाडा (TADA), पोटा (POTA) जैसे कठोर कानून अवश्य बनाए गए हैं, जो बिना मुकद्दमे के अभियुक्त को अधिक समयावधि तक गिरफ्त में रखे जाने की अनुमति देते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अतीत के पूर्वाग्रह तथा हिरासत में हुई मौतों सहित देश-भर में पुलिस द्वारा अपनी शक्तियों के दुरुपयोग की घटनाओं को देखते हुए बहुत कुछ करने की जरूरत है। लेकिन पुलिस लगातार बहुतों का बलि का बकरा बनती रही है। यदि पोटा के दुरुपयोग जैसी घटनाएँ सामने आती हैं तो उसका आरोप पुलिस पर लगाया जाता है, न कि व्यवस्था पर, जो राजनीतिक प्राधिकरणों द्वारा पुलिस के दुरुपयोग की राह खोलता है। 5 जुलाई 2004 को नई दिल्ली में पोटा पर जारी पीपुल्स ट्रिब्यूनल की रिपोर्ट में कहा गया है, “पोटा को लागू करने में जान-बूझकर पक्षपातपूर्ण साम्प्रदायिक रवैया अपनाया गया है तथा मुसलमानों को न सिर्फ गुजरात, बल्कि दिल्ली, महाराष्ट्र और जम्मू-कश्मीर में बड़ी संख्या में हवालात में रखा गया है। झारखण्ड में निर्दोष लोगों के विरुद्ध 100 मामले पोटा के अन्तर्गत दायर किए गए हैं...।” ह्यूमैन राइट्स लॉ नेटवर्क के वरिष्ठ वकील कोलिन गोंजाल्विस का कहना है, “पोटा के साथ सबसे बड़ी समस्या यह है कि यह हिरासत में दिए गए इकबालिया बयान को न्यायालयों में स्वीकार्य करवाते हैं।” एक अन्य वकील नित्य रामकृष्णन का कहना है, “मेरी समझ से समस्या यह है कि पोटा जैसा कानून किसी एक व्यक्ति की अच्छी धारणा पर निर्भर नहीं है। इसे लागू करना पुलिस तथा एजेंसियों के हाथों में होता है, जिन्होंने कई अवसरों पर सह्यता की कमी दिखाई है।” लेकिन पुलिस बलों में साम्प्रदायिक दुर्भावना कौन भर रहा है, जबकि कुछ सालों पहले वे दुर्भावनामुक्त थे? और इकबालिया बयानों की स्वीकार्यता के सन्दर्भ में इसे क्या करना चाहिए? और इसका क्या कि पोटा के अन्तर्गत कितने ही मामलों में वरिष्ठ पुलिस अधिकारियों के समक्ष हिरासत में अभियुक्त के झूठे इकबालिया बयान दर्ज किए जाते हैं। पुलिस एजेंसियों का राजनीतिक प्राधिकरणों के प्रति समर्पित सहयोग जैसे जो दुरुपयोग होते हैं, उसके मूल कारण पर विचार करने से क्यों बचा जाता है, जबकि यूनाइटेड किंगडम सहित अन्य लोकतान्त्रिक देशों में ऐसी स्थिति नहीं है। वहाँ की पुलिस-व्यवस्था कानून और समाज के प्रति उत्तरदायी है।

1861 का अधिनियम और पुलिस का राजनीतिकरण

यह तथ्य हमें समस्याओं के मूल कारण की ओर ले जाता है कि हमारे पुलिस बल कमोबेश 1861 के पुलिस अधिनियम के अनुसार ही कार्य कर रहे हैं, जो अंग्रेजों द्वारा 1857 में हुए सैनिक विद्रोह को ध्यान में रखकर बनाया गया था। 1860 में

गठित पुलिस आयोग की संस्तुतियों के आधार पर इस कानून को पारित किया गया था, जिसमें साफ-साफ लिखा है कि वे एक ऐसी पुलिस-प्रणाली का गठन करना चाहते हैं, जो राजनीतिक रूप से अधिक लाभदायक हो। वास्तव में पुलिस अधिनियम के अन्तर्गत बनाए गए पुलिस मैनुअल पुलिस-कार्यों में हस्तक्षेप की अनुमति भी देते हैं। पुलिस की कार्य-प्रणाली की जाँच करने के लिए 1902-03 में गठित किए गए फ्रेजर आयोग ने टिप्पणी करते हुए कहा था कि प्रान्तीय सरकारों द्वारा बड़ी संख्या में बनाए गए नियम-विनियम पुलिस के निहितार्थों के विरुद्ध हैं तथा उसमें हस्तक्षेप के अनेक रास्ते हैं, कानून जिनकी इजाजत नहीं देता और जो पुलिस विभाग के हित में दुराग्रहपूर्ण हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय यह आशा की गई थी कि पुलिस-प्रणाली का विकास एक नई भूमिका और उद्देश्यों के साथ होगा और वह कानून तथा जनता के प्रति उत्तरदायी होगी। दुर्भाग्यवश, ऐसा नहीं हुआ। उदाहरण के तौर पर, 1975-76 में लगाए गए आपातकाल में संकीर्ण राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु पुलिस के असीमित दुरुपयोग को देखा जा सकता है, जबकि इसने स्वयं का उपयोग होने दिया और इसका उपयोग उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया गया, जिनमें से अनेक बहुत ही ज्यादा आपत्तिजनक थे। ग्रेजुएट स्कूल ऑफ इण्टरनेशनल स्टडीज, डेनवर विश्वविद्यालय के डेवि एच. बेले ने लम्बे समय तक भारत में पुलिस-प्रणाली पर गहन अध्ययन किया है। नवम्बर 1981 में ‘भारत में पुलिस और राजनीतिक व्यवस्था’ विषय पर लिखे अपने आलेख में उनकी टिप्पणी है “विगत दशक में भारतीय पुलिस पर अनपेक्षित दबाव रहा है। संक्षेप में, वह दलगत राजनीति में गहनता से संलिप्त रही। पुलिसवालों की अलग-अलग पूर्व राजनीतिक धारणाएँ थीं, वे राजनीति द्वारा पोषित थे और इसके लिए सामूहिक रूप से संगठित थे। उनके राजनीतिकरण के कारण, मैं समझता हूँ कि कानूनी प्रावधानों की स्पष्ट अवमानना हुई है।” वे आगे लिखते हैं, “राजनीति काफी लम्बे समय से पुलिस के निर्णयात्मक मामलों में क्रमशः संधं लगाती रही है। आपातकाल के दौरान यह और भी स्पष्टतः तथा नाटकीय रूप से हुआ है। आपातकाल राजनीतिकरण के एक बड़े दौर का द्योतक है।” श्री बेले ने आगे लिखा है, “पुलिस अधिकतर स्वयं भी निर्दोष नहीं है, नियुक्ति, पदोन्नति तथा विशेष स्थानों पर की जाने वाली पदस्थापनाएँ प्रायः राजनीतिक प्रभावों पर निर्भर करती हैं, इसलिए अधिकारी अपने बचाव के लिए राजनीतिक गठजोड़ बनाए रखते हैं।”

द ब्यूरो ऑव पुलिस रिसर्च एण्ड डिवेलपमेण्ट ने ‘पुलिस के राजनीतिक और प्रशासनिक परिचालन’ विषय पर 1979 में प्रकाशित एक शोधपत्र में यह चेतावनी भी दी थी कि पुलिस पर राजनीतिकों तथा उनके सैद्धान्तिक सलाहकारों के अत्यधिक नियन्त्रण से यह स्वाभाविक खतरा है कि वह कानूनी प्रक्रियाओं को नष्ट करने वाले एक ऐसे उपकरण में बदल जाएगी, जिससे सत्तावादियों का प्रभुत्व बढ़ेगा तथा

लोकतंत्र की जड़ें कमजोर होंगी।” किन्तु यह चेतावनी व्यर्थ साबित हुई।

सन् 1977 में हुए लोकसभा चुनावों में श्रीमती गाँधी चुनाव हार गई थीं। देश की जनता ने एक बार पुनः लोकतन्त्र में अपना विश्वास जताया तथा आपातकाल को अस्वीकृत कर दिया। जनता पार्टी सरकार, जिसने श्रीमती गाँधी को अपदस्थ किया था, ने लोकतान्त्रिक व्यवस्था के साथ पुलिस का सामंजस्य स्थापित करने हेतु ठोस कदम उठाए जाने का निर्णय लिया। उसने तत्कालीन पुलिस व्यवस्था के समस्त आयामों की पड़ताल के बारे में एक उच्च शक्ति सम्पन्न राष्ट्रीय पुलिस आयोग का गठन किया। आधुनिक भारत में यह तीसरी बार हुआ, जबकि केन्द्र सरकार ने राष्ट्रीय स्तर पर पुलिस-प्रणाली की पड़ताल के बारे में सोचा। उल्लेखनीय है कि ऐसा स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व 1806 और 1902 में किया गया था। आयोग ने अपना प्रतिवेदन 8 भागों में प्रस्तुत किया। अब तक केवल पहला भाग ही सार्वजनिक किया गया है तथा अधिकतर संस्तुतियाँ, खासतौर पर पुलिस-प्रणाली में आन्तरिक सुधार के बारे में, अभी तक कार्यान्वित नहीं की गई हैं। हाल के कुछ वर्षों में इस दिशा में पहल की गई है। यह मामला सर्वोच्च न्यायालय में विचाराधीन है। यह अलग से चर्चा का विषय है।

पुलिस-प्रबन्धन में गैर-व्यावसायिक रवैया

1861 के पुलिस अधिनियम के अन्तर्गत जिलों में द्वैध नियन्त्रण और राजनीतिकों की अधीनता के कारण पुलिस-प्रबन्धन और पुलिस-कार्यों में कई प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। व्यावसायिक स्वतन्त्रता का अभाव पुलिस व्यवस्था को पूरी तरह गैर-व्यावसायिकता की ओर ले जाता है। पुलिस के अनेक वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा राजनेताओं के समक्ष किए गए नीचतापूर्ण आत्म-समर्पण ने हालात और भी बदतर कर दिए हैं। इसने स्वस्थ व्यावसायिक नेतृत्व को खत्म करने का काम किया है। नियुक्ति तथा प्रशिक्षण सम्बन्धी नितान्त आन्तरिक मामलों के निर्णय राजनीतिक दखल एवं कुछ पुलिस अधिकारियों की उदासीनता के कारण विकृत हो जाते हैं। ऐसे में पुलिस विभाग निस्सहाय हो जाता है। कुछ वर्षों पूर्व एक मुख्यमन्त्री ने एक ही बार में 600 सब-इन्सपेक्टरों को नियुक्त करने का निर्णय लिया, क्योंकि वह पुलिस थानों में अपने व्यक्ति चाहते थे। पुलिस महानिदेशक ने एक ही बैच में इतनी बड़ी संख्या में कैडेट्स के प्रशिक्षण में आनेवाली कठिनाइयों और कैडर प्रबन्धन आदि से जुड़ी आधारभूत आपत्तियाँ उठाई, किन्तु उन्हें दरकिनार कर दिया गया।

सिपाही और उप-निरीक्षक जैसे महत्वपूर्ण पदों में नियुक्ति सम्बन्धी कोई ठोस नियुक्ति नीति नहीं है, जिससे हमें शारीरिक रूप से पराक्रमी, सुदृढ़ और व्यवहार-कुशल व्यक्ति मिल सकें। प्रशिक्षुओं को समुचित सुविधाएँ नहीं मिल पातीं, और न ही प्रशिक्षण संस्थानों का चुनाव उचित ढंग से किया जाता है। प्रशिक्षण संस्थान निरन्तर

निरर्थक होते जा रहे हैं। कुछ ही राज्यों ने पुलिस-प्रशिक्षण पर दी गई गोरे कमिटी रिपोर्ट की संस्तुतियों तथा राष्ट्रीय पुलिस आयोग की संस्तुतियों को कार्यान्वित किया है। कई स्थानों पर तो भवन, कक्ष, स्नानघर, भोजन-कक्ष आदि आधारभूत सुविधाओं का भी अभाव है। वर्ष 1992 में किए गए एक अध्ययन में यह स्वीकार किया गया है कि 10 में से 7 पुलिस प्रशिक्षण संस्थानों में शिक्षण की समुचित व्यवस्था नहीं है। कुछ वर्षों पूर्व बी. पी. आर एण्ड डी. द्वारा किए गए एक अन्य अध्ययन के अनुसार राज्यों में पुलिस-प्रशिक्षण पर खर्च की जानेवाली राशि का प्रतिशत राज्य पुलिस पर कुल खर्च की तुलना में बहुत कम था। पूरे देश में यह खर्च 0.08 (केरल में) से 3.29 (मिजोरम में) प्रतिशत के बीच सिमटा हुआ था। बिहार में यह मात्र 1.75 प्रतिशत तथा उत्तर प्रदेश में 1.1 प्रतिशत था।

पुलिस थाना पुलिस प्रशासन की प्राथमिक इकाई है। वस्तुतः यह समस्त पुलिस प्रशासन की आधारभूत इकाई है। किन्तु दुर्भाग्यवश, इसकी निरन्तर उपेक्षा ही हुई है। कई स्थानों पर पुलिस थाने बहुत बड़े तथा अनियन्त्रणीय हैं। वे सुविधासम्पन्न नहीं हैं। संक्षेप में, उन व्यक्तियों द्वारा पुलिस-प्रबन्धन, जो पुलिस बलों में नहीं है, के गैर-व्यवसायिक दृष्टिकोण ने जिले की पुलिस व्यवस्था और पुलिस थानों की उपेक्षा की है, जबकि सशस्त्र बलों और केन्द्रीय अर्द्धसैनिक बलों के विस्तार की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। पुलिस थानों में वीआईपी ड्यूटी पर अधिक ध्यान दिया जाता है, जबकि कानून-व्यवस्था, अपराध निवारण तथा छानबीन के कार्यों को कम प्राथमिकता दी जाती है। जिले की पुलिस व्यवस्था को सशक्त बनाने तथा उसके आधुनिकीकरण की तरफ उतना ध्यान नहीं दिया जाता, जितना अपेक्षित है। इसके कारण समस्त पुलिस व्यवस्था, विशेष रूप से ग्रामीण इलाकों में, लगभग ठप्प पड़ जाती है।

राजनीतिक-आपराधिक गठजोड़ और पुलिस

बढ़ते हुए राजनीतिक अपराधीकरण तथा आपराधिक राजनीति ने देश की पुलिस व्यवस्था पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ा है। इसने पुलिस की विश्वसनीयता, प्रभाव तथा निष्पक्षता को क्षरित किया है जिसके परिणामस्वरूप समाज के एक बड़े वर्ग में पुलिस बलों के प्रति विश्वास और भरोसे में कमी आई है। राजनीति के अपराधीकरण ने अपना पहला शिकार प्रशासन तथा पुलिस को बनाया है, जिसके परिणामस्वरूप कानून-व्यवस्था न तो स्वच्छ है और न ही निष्पक्ष। पूर्व कैबिनेट सचिव बी. जी. देशमुख ने कुछ वर्षों पूर्व इस तथ्य का संक्षिप्त उल्लेख करते हुए लिखा है

“हममें से कई सोचते हैं कि मुम्बई सर्वाधिक सुरक्षित शहरों में से एक है। यहाँ के पुलिस बल की एक सुयोग्य परम्परा और प्रतिष्ठा है। लेकिन यहाँ माफिया गुटों का सरेआम घूमना और हत्या करके अ-दण्डित रह जाना आम बात हो गई है और ऐसा रातों-रात या अल्पावधि में नहीं हुआ। इसके बहुत से कारण हैं, किन्तु सर्वाधिक प्रमुख

कारण राजनीति का अपराधीकरण है। यह 70 के दशक के अन्त में तब प्रारम्भ हुआ, जब राजनीतिक दलों ने चुनाव जीतने के लिए अपराधियों की सहायता लेना शुरू किया। स्वभावतः इससे राजनीति का अपराधीकरण हुआ तथा अपराधिक रिकार्डवाले व्यक्तियों को भी पार्टियों द्वारा टिकटें दी जाने लगीं।

“पुलिस संशय में थी कि यदि वह अपराधियों के खिलाफ सख्त कार्रवाई करती है तो पता नहीं राजनीतिकों की क्या प्रतिक्रिया हो। पुलिस विभाग में इन तत्त्वों से भ्रष्ट कराए गए व्यक्ति भी थे।” (द हिन्दू, 4 सितम्बर 1997)

इस चिन्ताजनक स्थिति के सन्दर्भ में भारत सरकार बहुत बाद में जागरूक हुई। वर्ष 1992 में ‘भारत में फौजदारी न्याय प्रशासन’ विषय पर मुख्यमन्त्रियों के एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। सम्मेलन में यह तथ्य उभरकर आया कि न केवल पुलिस, बल्कि फौजदारी न्याय व्यवस्था के दोनों खण्डों न्यायपालिका और जेलोंको समुचित वित्तीय सहायता नहीं मिलती। सम्मेलन में पारित एक संकल्प में कहा गया कि विगत वर्षों में फौजदारी न्याय प्रशासन के तीनों क्षेत्रों पुलिस, न्यायपालिका और जेलोंपर व्यय की जानेवाली राशि में अपेक्षाकृत कमी आई है। उसमें बढ़ते हुए राजनीतिक अपराधीकरण तथा प्रशासन के राजनीतिकरण पर भी चिन्ता व्यक्त की गई। सम्मेलन में अनुवर्ती कार्रवाई के लिए भारत सरकार के गृहमन्त्री के अन्तर्गत एक कमिटी के गठन की अनुशंसा की गई। इसके बावजूद भी कुछ नहीं हुआ। अगले वर्ष सरकार ने केन्द्रीय गृहसचिव श्री एन.एन. वोहरा की अध्यक्षता में एक कमिटी का गठन किया, जिसके सदस्य थे आर. एण्ड डब्ल्यू. के सचिव, आई. बी. के निदेशक, सी. बी. आई. के निदेशक और विशेष गृहसचिव। कमिटी को सरकारी उपक्रमों तथा राजनतिज्ञों से सम्बद्ध तथा उनके द्वारा संरक्षण प्राप्त आपराधिक गिरोहों/माफिया संगठनों की गतिविधियों के बारे में समस्त सूचनाएँ इकट्ठा करने तथा उन पर अपनी संस्तुतियों प्रस्तुत करने को कहा गया। कमिटी ने 3 अक्टूबर 1993 को प्रस्तुत किए गए अपने प्रतिवेदन में बताया कि आपराधिक संगठनों, पुलिस, नौकरशाहों और राजनीतिज्ञों में परस्पर गठजोड़ देश के विभिन्न राज्यों/क्षेत्रों में आम बात है। बिहार, उत्तर प्रदेश और हरियाणा जैसे राज्यों में माफिया संगठनों को स्थानीय राजनेताओं और सरकारी उपक्रमों का प्रायः पूरा संरक्षण प्राप्त है। प्रतिवेदन में आगे कहा गया है कि माफिया संजाल इतना सशक्त है कि वे अप्रत्यक्ष रूप से एक समान्तर सरकार चलाते हैं, जिसके सामने राज्य की व्यवस्था अप्रासंगिक प्रतीत होती है। आपराधिक गिरोह इतने बाहुबली और सम्पन्न होते हैं कि वे अपने प्रभाव से जाँच तथा अभियोजन एजेन्सियों के कार्यों को बहुत ज्यादा दुष्कर बना देते हैं। यहाँ तक कि न्यायपालिका के सदस्य भी माफिया के प्रभाव से अछूते नहीं हैं तथा मामलों की जाँच पूरी होने से पहले ही प्रभारी अधिकारियों का तबादला अन्यत्र हो जाता है।

दुर्भाग्यवश, विगत कुछेक वर्षों में स्थिति को और अधिक खराब हो जाने दिया

गया है। 28 अगस्त 1997 को चुनाव आयुक्त जी. वी. जी. कृष्णमूर्ति ने देश में अपराधियों के राजीतिकरण के आंकड़ों का खुलासा कर सबको चौंका दिया था। उनके अनुसार वर्ष 1996 में होने वाले आम चुनावों में 137752 उम्मीदवारों में से लगभग 1500 उम्मीदवारों के खिलाफ हत्या, लूट, बलात्कार, चोरी अथवा जबरन वसूली के आपराधिक मामले दर्ज थे। उत्तर प्रदेश में आपराधिक रिकार्ड वाले उम्मीदवारों की संख्या 520 थी, जबकि 350 ऐसे उम्मीदवारों के साथ बिहार दूसरे स्थान पर था। श्री कृष्णमूर्ति ने आगे यह स्वीकार किया था कि ग्यारहवीं लोकसभा में 40 सदस्य आपराधिक पृष्ठभूमि वाले थे जबकि देश-भर के 4722 में से लगभग 700 विधायक ऐसे थे, जिनके विरुद्ध 25 राज्यों एवं दो केन्द्र-शासित प्रदेशों में विभिन्न आपराधिक मामले और मुकद्दमे चलाए जा रहे थे। ऐसा नहीं है कि राजनीतिक और कानून-निर्माता भारतीय लोकतन्त्र के प्रति इस खतरे से अनजान हैं। स्वतन्त्रता की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर लोकसभा के विशेष सत्र में 31 अगस्त 1997 को सदन ने एक संकल्प पारित किया था, जिसमें कहा गया है, “विशेष ध्यान देते हुए सभी राजनीतिक दलों को ऐसे सभी जरूरी कदम उठाने होंगे, जिससे कि हमारी शासन-व्यवस्था में बढ़ते अपराधीकरण अथवा उसके प्रभाव के निराकरण में सफल हुआ जा सके।” लेकिन यह एक कोरा संकल्प ही साबित हुआ। जब ठोस सुधारों की बात सामने आई, तब कुछ को छोड़कर बाकी राजनीतिक दलों ने चुनाव सुधारों को दरकिनार कर दिया। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जारी निर्देशों के अनुसरण में वर्ष 2002 में निर्वाचन आयोग ने चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों द्वारा ऐसा हलफनामा प्रस्तुत करना जरूरी कर दिया, जिसमें उन्हें अपने आपराधिक रिकार्ड अथवा अपनी परिसम्पत्तियों आदि का ब्यौरा देना है। एक सर्वदलीय बैठन ने इस प्रस्ताव को अस्वीकृत करने के साथ-साथ जन प्रतिनिधित्व अधिनियम को भी संशोधित करने को कहा, जिसके अन्तर्गत उन उम्मीदवारों को चुनाव लड़ने से रोकने का प्रावधान है, जिनके विरुद्ध दो या दो से अधिक घृणित प्रकार के मामलों में न्यायालय में मुकद्दमे लम्बित हों। अन्ततः सर्वोच्च न्यायालय ने निर्वाचन आयोग के उस निदेश का समर्थन किया, जिसमें चुनाव लड़नेवाले उम्मीदवारों को नामांकन पत्रों के साथ उनके आपराधिक रिकार्ड तथा परिसम्पत्तियों का ब्यौरा देनेवाला हलफनामा प्रस्तुत करना अनिवार्य है। इसे अप्रैल-मई 2004 में हुए लोकसभा चुनावों में कार्यान्वित किया गया था, किन्तु यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि इसे लागू करने के बावजूद भी लोकसभा में आपराधिक रिकार्ड वाले लोगों को आने से रोका नहीं जा सका। अपवादों को छोड़कर सभी राजनीतिक दलों, खास कर उत्तरी क्षेत्रों के दलों में ऐसे लोगों की भरमार है। हाल ही में प्रकाशित आँकड़ों के अनुसार, एनडीए में 37 सांसद आपराधिक रिकार्डवाले हैं। निर्वाचन आयोग ने भारतीय जनता पार्टी के 137 सांसदों में से 26 को इस रूप में सूचीकृत किया है, जो प्रायः 20 प्रतिशत है। कांग्रेस के 145 सांसदों में से 15 आपराधिक

रिकार्ड वाले हैं। राष्ट्रीय जनता दल के 40 प्रतिशत सांसद तथा बहुजन समाज पार्टी के एक तिहाई सांसद भी ऐसे ही हैं। जनता दल (यूनाइटेड) और लोक जन शक्ति पार्टी भी इसमें पीछे नहीं हैं।

आश्चर्य की बात है कि वर्तमान केन्द्र सरकार के कुछ मन्त्रियों के खिलाफ गम्भीर मामलों में न्यायालयों में मुकद्दमे लम्बित हैं। पुलिस आज विचित्र असमंजस की स्थिति में है। जब किसी केन्द्रीय मन्त्री के खिलाफ कानूनी कार्रवाई करनी होती है, तो वे कुछ कर पाने की स्थिति में नहीं होते, जैसा कि झारखण्ड राज्य के एक कैबिनेट मन्त्री के मामले में हुआ। न्यायालय ने उनके विरुद्ध गैर-जमानती वारंट जारी किया था। वह मन्त्री भूमिगत हो गया। प्रधानमन्त्री अथवा गृहमन्त्री भी संसद को बता पाने में असमर्थ थे कि वह मन्त्री कहाँ गया। आज जो कुछ भी हो रहा है, वह न केवल पुलिस-प्रणाली, बल्कि सम्पूर्ण फौजदारी न्याय व्यवस्था के लिए चुनौतीपूर्ण है। समय निकलता जा रहा है और यदि समस्या के निवारण के लिए कुछ नहीं किया गया, तो पुलिस-प्रणाली के साथ-साथ सम्पूर्ण व्यवस्था ठप्प हो जाएगी। आज, समय की माँग है कि पारदर्शिता के साथ विचार करते हुए पुलिस न्याय-प्रणाली तथा निर्वाचन कानूनों में त्वरित रूप से सुधार किए जाएँ।

सन्दर्भ-ग्रंथ

1. एन. के. सिंह, *द प्लेन टूरुथ*
2. एन. के. सिंह, *द पॉलिटिक्स ऑफ़ क्राईम एण्ड करप्शन*
3. *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ इण्डियन पुलिस*
4. डेविड एच. बेले, *द पुलिस एण्ड पॉलिटिक्स : ऑर्डर वर्ड इन इण्डिया अ पेपर तथा ग्रेजुएट स्कूल ऑफ़ इण्टरनेशनल स्टडीज, यूनिवर्सिटी ऑफ़ डेनवर*
5. *वोहरा कमिटी रिपोर्ट ऑफ़ 1993*
6. *द इण्डियन कांस्टिट्यूशन*, पुलिस अधिनियम 1861 और अन्य महत्त्वपूर्ण अधिनियम
7. एन. के. सिंह, *फैक्टर्स इनफ्लुएंसिंग पुलिस परफॉर्मेंस एन एस्से*
8. **एन. के. सिंह, ए. पी. दुराई अनुराग गोयल और एल. सी. अमरनाथन, रिपोर्ट ऑफ़ द इण्डियन टीमअ स्टडी ऑन पुलिस ट्रेनिंग इन यू. के.**
9. *डाटा ऑन ऑर्गनाइजेशन इन इण्डिया ऐज ऑन 01.01.1999*, बी. पी. आर. एण्ड डी. की रिपोर्ट
10. एन. के. सिंह, *पुलिस रिफॉर्म्स एन एस्से*

पुलिस, राजनीति और मानवाधिकार

के. एस. दिल्ली*

“किसी भी व्यक्ति को, विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अतिरिक्त, किसी अन्य प्रकार से उसके जीवन या उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से वंचित नहीं किया जाएगा।”

भारत का संविधानअनुच्छेद 21

भारत के संविधान में मानवाधिकारों और नागरिकों की मूलभूत स्वतन्त्रताओं को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। निर्धारित प्रक्रिया, सामाजिक न्याय और विधि का शासन ये आधारस्तम्भ हैं जिन पर इस संविधान की पूरी व्यवस्था और संरचना टिकी हुई है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही इसमें नागरिकों के व्यक्तिगत जीवन पर राज्य के नियन्त्रण को सीमित किया गया है जिससे कि प्रत्येक भारतीय को अपने जीवन को सम्मान और स्वाभिमान से जीने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो और राज्य की एजेन्सियों द्वारा, विधिक और निर्धारित प्रक्रिया के अतिरिक्त, अन्य प्रकार से हस्तक्षेप न किया जाए। यदि राज्य अपने कर्मचारियों को व्यक्तिगत अधिकारों और स्वतन्त्रताओं के उल्लंघन से नहीं रोक पाता तो मामले को अदालतों के समक्ष लाए जाने पर राज्य हर्जे-खर्चे का जिम्मेदार होगा। भारतीय अदालतें संविधान द्वारा दी गई सुरक्षा को बनाए रखने के लिए दूर तक साथ देती हैं और राज्य अथवा इसके कर्मचारियों, खासकर पुलिस, कस्टम, राजस्व, एक्साइज आदि, द्वारा की गई ज्यादतियों के विरुद्ध नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए और व्यक्ति को अन्यायपूर्ण व्यवहार से बचाने के लिए सिद्धान्त और मार्गदर्शी बिन्दु निर्धारित करती हैं। इस बात की पुष्टि करने के लिए हम उच्चतर न्यायपालिका द्वारा दिए गए अनेक निर्णयों और व्यवस्थाओं का उदाहरण ले सकते हैं। कम-से-कम, सिद्धान्त रूप में, जब राज्य और लोगों के

* लेखक पंजाब और मध्य प्रदेश के पूर्व पुलिस महानिदेशक, भोपाल विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति और उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला के फेलो रहे हैं। वे दो पुस्तकों “Defenders of the Establishment : Ruler-Supportive Police Forces of South Asia” और “Police and Politics in India” के लेखक हैं; पंजाब में सैन्य शासन के समय के बारे में तीसरी पुस्तक की तैयारी कर रहे हैं। डायलॉग, वर्ष 6 अंक-1 (2004) के उनके अंग्रेजी लेख से अनुवाद; अनुवादक : रघुवीर शर्मा, फ्लैट नं. 4, 4/251, वैशाली, गाजियाबाद (उ. प्र.), मोबाइल-9818484865

बीच के सम्बन्ध में राज्य पर लगाम कसने की बात आती है तो कोई भी अन्य संविधान इतना मुखर और विस्तृत नहीं है। दुर्भाग्य से वास्तविक स्थिति बिलकुल भिन्न है। एक ऐसी प्रशासन प्रणाली में, जो अभी भी मुख्य रूप से औपनिवेशिक अवधारणाओं और प्रथाओं से प्रभावित है, सत्ता और शक्ति की स्थिति में रहने वाला शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो आम जनता के अधिकारों और विशेषाधिकारों को लेकर बहुत अधिक चिन्तित हो। इस मामले में पुलिस हमेशा विवादास्पद रहती आई है क्योंकि न केवल कानून की परिधि में बल्कि उससे बाहर भी उसे लोगों के जीवन और उनकी स्वतन्त्रता पर बहुत अधिक अधिकार प्राप्त हैं जिसके अनेक ऐतिहासिक और अन्य कारण हैं और जो आज भी इसका आचार-विचार तय करते हैं। चूंकि औपनिवेशिक शासन खत्म होने के सत्तावन वर्षों के बाद भी विधि प्रवर्तन और पुलिस की कार्यप्रणाली को नियन्त्रित करने वाली प्रक्रिया तथा विधि के बुनियादी ढाँचे में कोई बदलाव नहीं हुआ है, विधि का प्रवर्तन करने वाली एजेन्सियों की औपनिवेशिक मनोवृत्ति और तौर तरीकों में बदलाव के लिए किसी बड़ी प्रेरक शक्ति का अभाव है, जबकि संवैधानिक प्रावधानों में ऐसी व्यवस्था है।

औपनिवेशिक अवधारणाएँ और अधिकारों का उल्लंघन

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग की वर्ष 1996-97 की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार, इसे अधिकारों के उल्लंघन की 20,514 शिकायतें मिलीं जो पिछले वर्ष प्राप्त शिकायतों के दोगुने से ज्यादा है। सर्वाधिक जनसंख्या वाले और राजनीतिक रूप से प्रभावशाली उ. प्र. का स्थान 8,497 शिकायतों के साथ पहला रहा जबकि पड़ोसी बिहार 2,320 शिकायतों के साथ दूसरे स्थान पर रहा; इस प्रकार भारत के दो प्रमुख राज्यों की हिस्सेदारी प्राप्त शिकायतों का 54% रही। जनजागरूकता के निम्न स्तर और संचार की अपनी कठिनाइयों के कारण म. प्र. से केवल 936 मामले सामने आए। संघा शासित क्षेत्रों में दिल्ली (1405) का स्थान सूची में सबसे ऊपर रहा। यहाँ इस बात का उल्लेख किया जाना जरूरी है कि पिछले वर्ष की तुलना में शिकायतों की संख्या दोगुनी होने के बावजूद इससे भारत के विशाल, पिछड़े, अशिक्षित और दूर-दराज के ग्राम्य इलाकों में हुए अधिकारों के उल्लंघन का पूरे तौर पर पता नहीं चल पाता जहाँ ग्रामीण, जनजातीय और हाशिये के लोग रहते हैं। इनमें से अधिकांश मामले बड़े शहरों के हैं जहाँ निश्चित तौर पर सतर्क 'एन जी ओ' और संचार माध्यम जागरूक हैं। ऐसा कोई भी मामला सामने आने पर जनता के उग्र विरोध और मीडिया द्वारा ध्यान केन्द्रित किए जाने के बावजूद हिरासत में होने वाली मौतों और बलात्कार के मामले भी लगातार बढ़ रहे हैं।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग को 1996-97 में पुलिस या न्यायिक अभिरक्षा में मृत्यु के 888 मामलों की सूचना प्राप्त हुई। ऐसी रोषपूर्ण घटनाओं के दोगुने हो जाने

को बेहतर रिपोर्टिंग या बढ़ी हुई जागरूकता के मध्ये मढ़ना निरर्थक है। इस बात को आप चाहे जैसे भी देखें, पुलिस या जेल की क्रूरता और संवेदनहीनता की अनदेखी नहीं की जा सकती। पुनः यह मानना बहुत आसान है कि ऐसे सभी मामले प्रकाश में नहीं आते जिसके कारण स्पष्ट है। राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग द्वारा एक हैरान करने वाला खुलासा किया गया है कि सेना की अभिरक्षा में मौतों और बलात्कारों की व्यक्तिगत शिकायतों के विपरीत, सेना और अर्द्धसैनिक बलों द्वारा आमतौर पर अपनी तरफ से अभिरक्षा में हुई किसी भी मृत्यु की सूचना दर्ज नहीं कराई जाती जिससे इस आम धारणा को बल मिलता है कि सत्य का गला घोटने के हर संभव प्रयास किए जाते हैं।

यह सर्वविदित है कि सेना, पुलिस और अन्य प्रवर्तन एजेन्सियों द्वारा सन्देहास्पद व्यक्तियों को अभिरक्षा में दी जाने वाली यातना सामान्य है। सुरक्षा बलों द्वारा सिख उग्रवाद के समय में पंजाब में आतंकवाद से लड़ने के नाम पर निर्दोष आदमियों, औरतों और बच्चों पर अकथनीय अत्याचार किए गए जिसका विस्तृत ब्यौरा जनभावनाओं से ओतप्रोत अनेक व्यक्तियों और संगठनों द्वारा दिया गया है। आज भी मीडिया द्वारा नियमित रूप से देश भर में पुलिस और सेना की क्रूरता के वीभत्स और विस्तृत ब्यौरे दिए जाते हैं जिसमें राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली का नाम प्रमुखता से आता है। अभी बहुत दिन नहीं हुए जब दिल्ली के एक पुलिस थाने में 55 वर्षीय चमड़ा व्यापारी हरिशंकर को यातना देकर मार डाला गया था। 10 से 13 साल के बीच की उम्र के नौ बच्चों को मामूली चोरी के शक में पकड़कर कई दिनों तक यातना दी गई। 12 वर्षीय सीमा को दिल्ली के एक अन्य पुलिस थाने में उलटा लटकाकर पीटा गया, इसलिए नहीं कि उस पर किसी अपराध का शक था बल्कि इसलिए कि उसने मनचाहा साक्ष्य देने से इंकार कर दिया गया था। ऐसी जघन्य घटनाएँ किसी खास क्षेत्र तक सीमित नहीं है। देश के किसी भी हिस्से को ले लें तो उतनी ही घटनाएँ मिलेंगी। ऐसा भी नहीं है कि ऐसी गैर-कानूनी हरकतों पर पुलिस का एकाधिकार है, आमतौर पर सभी प्रवर्तन एजेन्सियाँ इनका इस्तेमाल करती हैं। भारत 'यातना के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र समझौता-1984' के साथ-साथ 'मानवाधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा-1948' और 'नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों पर अन्तर्राष्ट्रीय समझौता 1966' पर हस्ताक्षर करने वाला देश है। लेकिन इसने सिद्धान्त या व्यवहार में उन्हें लागू करने के लिए ठोस या प्रभावी कदम नहीं उठाए हैं। पिछले वर्ष राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के लगातार दबाव से केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल ने यातना के विरुद्ध प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी, हालांकि वर्षों तक इसकी पुष्टि नहीं हो पाई थी।

लेकिन इस स्थिति के लिए अकेले प्रवर्तन एजेन्सियों को दोषी ठहराना निरर्थक है। शासन का ढाँचा, विधि प्रवर्तन की आज भी प्रचलित औपनिवेशिक परम्पराएँ,

भारतीय राजनीतिक और नौकरशाह वर्ग की सामन्तवादी मनोवृत्तियाँ और पुलिस के नेतृत्व को कमजोर करने के लगातार प्रयास मिल-जुलकर मानवाधिकारों के नाम पर अमल में लाए जा रहे पाखण्ड के लिए जिम्मेदार हैं। टी एस इलियट की प्रसिद्ध पंक्तियों को जरा-सा बदलकर कहें तो मरीचिका, करनी और कथनी के बीच, दावों और सच्चाई के बीच कहीं स्थित है। और यह मरीचिका क्षीण होती नहीं प्रतीत होती। अब यह कोई छिपी बात नहीं है कि अधिकांश भारतीय, चाहे उनकी समाजिक स्थिति, शैक्षिक पृष्ठभूमि, आर्थिक स्तर और व्यावसायिक उपलब्धियाँ जो भी हों, भारतीय पुलिस को बड़ी नीची निगाह से देखते हैं। क्रूरता, बेईमानी, अपराध दर्ज न किए जाने, साक्ष्य को झुठलाने और उनमें अनावश्यक विस्तार आदि करने के आरोप रोज ही मीडिया और सामाजिक चर्चाओं में सामने आते हैं। लेकिन इस बात को ठीक से समझा नहीं जाता कि समूचे दक्षिण एशियाई पुलिस की मनोवृत्ति, कार्यप्रणाली, व्यवहार के तरीके और कुशलता के स्तर का सम्बन्ध पिछले तीन हजार वर्ष के दौरान इसके इतिहास और विकास से है, विशेष रूप से भारतीय उपमहाद्वीप में दो शताब्दी के ब्रिटिश साम्राज्य से। भारत में पुलिस हमेशा शासक-समर्थक संगठन रही है, जनता की समर्थक कभी नहीं। ऐसा होना सम्भव भी नहीं था क्योंकि अधिकांश एशियाई और अफ्रीकन पुलिस का उद्भव और विकास मुख्य रूप से औपनिवेशिक शक्तियों की जरूरतों के नाते और उनके विदेशी हित साधने के लिए उन्हीं के प्रभाव में हुआ था। भारतीय उप-महाद्वीप के देशों के पुलिस बलों का इतिहास तो काफी पुराना है लेकिन वे अनिवार्य रूप से 1861 के पुलिस अधिनियम की देन हैं। ब्रिटिश शासन से स्वतन्त्र हुए आधी शताब्दी से ज्यादा बीत चुका है लेकिन भारत और बंगलादेश की पुलिस 19वीं शताब्दी के मध्य के उन्हीं कानूनों से चल रही है। केवल पाकिस्तान ने जिसे लम्बे समय से सामन्ती समाज माना जाता है, 1861 के अधिनियम के स्थान पर 'पाकिस्तान पुलिस अध्यादेश 2001' नाम के एक प्रगतिशील कानून को लाकर दूरदृष्टि और राजनीतिक परिपक्वता का परिचय दिया है। यह एक विडम्बना ही है कि यह मुख्य रूप से भारतीय राष्ट्रीय पुलिस आयोग 1977-81 की सिफारिशों पर आधारित है।

इस प्रकार एक भारतीय विशेषज्ञ समूह के प्रख्यात प्रस्ताव जो इस देश में दो दशक से ठण्डे बस्ते में पड़े हैं, एक विरोधी पड़ोसी द्वारा अपने पुलिस बलों का अधुनिकीकरण करने के लिए अपना लिए गए हैं जिससे कि उन्हें हानिकारक राजनीतिक नियन्त्रण से मुक्त कराया जा सके। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, राजनीतिक और नौकरशाह दोनों ही वर्ग इस बात पर बिलकुल ध्यान नहीं देते कि स्वतन्त्र देश होने और एक उदार, लोकतान्त्रिक व्यवस्था अपनाए जाने के कारण सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक और राजनीतिक परिदृश्य में व्यापक बदलाव हुए हैं जिनके साथ तालमेल बनाने के लिए आपराधिक न्याय प्रणाली को अद्यतन करने की

सख्त जरूरत है। इसलिए विधि-प्रवर्तन की परम्पराएँ और संस्थान उन्नीसवीं शताब्दी के उन्हीं मूल्यों और मान्यताओं में जकड़े पड़े हैं जो संसदीय लोकतन्त्र के अनुकूल तो नहीं लेकिन औपनिवेशिक शासन के अनुकूल जरूर हैं। इस प्रकार जहाँ भारतीय पुलिस की बताई गई सारी कमियाँ और अव्यवस्थाएँ पूरी तरह से सच्चाई से परे नहीं हैं, वही हमें इसके कारणों की भी अनदेखा नहीं करना चाहिए। क्योंकि पुलिस की सारी कमियाँ और दोष एक अन्तर्निहित बीमारी के बाहरी लक्षणों से ज्यादा कुछ नहीं हैं जिसे उचित प्रकार से और पूरी तरह से पहचानने की जरूरत है जिससे कि उचित उपचार किया जा सके। मानवाधिकारों और पुलिस सुधारों के बीच गहरे सम्बन्ध पर ध्यान दिया जाना चाहिए क्योंकि मानवाधिकार उल्लंघन से सम्बन्धित आँकड़ों के किसी भी अध्ययन से सिद्ध होता है कि प्रायः ऐसे आधे उल्लंघन पुलिस और सम्बन्धित एजेन्सियों के हाथों ही होते हैं। इसलिए इस बात पर जोर देना उचित ही है कि जब तक पुलिस व्यवस्था और विधि प्रवर्तन के क्षेत्र में बुनियादी सुधार नहीं किए जाते, मानवाधिकारों की रक्षा सुनिश्चित नहीं की जा सकती।

मानवाधिकारों के प्रति पुलिस की तत्परता

विधि प्रवर्तन की प्रमुख एजेन्सी के रूप में मानवाधिकारों के संरक्षण में पुलिस महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है क्योंकि संविधान में मौलिक अधिकारों के रूप में वर्गीकृत सभी नागरिक और राजनीतिक अधिकार भी देश के प्रमुख मूल और प्रक्रियात्मक आपराधिक कानूनों के उपबन्धों के तहत आते हैं जिन्हें आपराधिक प्रक्रिया संहिता, भारतीय साक्ष्य अधिनियम और भारतीय दण्ड संहिता का नाम दिया गया है। संयोग से इनमें से सभी पुराने हैंवाद वाले दो क्रमशः 1872 और 1862 में प्रभावी हुए जबकि पहला 1973 में दुबारा ड्राफ्ट किया गया, हालाँकि इसका प्रमुख स्वरूप आमतौर पर अपरिवर्तित ही रहा। भारतीय विधि प्रवर्तन प्रणाली की प्रमुख कमियों के कारण मुख्य रूप से क्रियान्वयन की टालमटोल वाली, अस्थिर या विकृत रणनीतियाँ हैं, न कि विधिक उपबन्धों का अभाव। किसी भी कोण से देखें तो भारत कानूनों से भरा हुआ देश है लेकिन उनके क्रियान्वयन के मामले में लचर है। इसके अलावा भारतीय पुलिसकर्मी बहुत कठिन परिस्थितियों में काम करते हैं, कम वेतन पाते हैं और ऐसी सार्वजनिक छवि के साथ जीते हैं जो इतना यथार्थपूर्ण होता है कि उनमें से अधिकांश जीवन-भर के लिए रक्षात्मक मुद्रा में रहने की आदत बना लेते हैं। निश्चित तौर पर यह स्थिति एक क्षरणशील समाज की लगातार बढ़ती जरूरतों से निपटने के लिए आदर्श मानसिक स्थिति नहीं है। स्पष्ट है कि पुलिसवाले जिस तरह विधि के तहत अपने में निहित शक्तियों का प्रयोग करते हैं, उसका व्यक्तियों के मनवाधिकार संरक्षण पर गहरा प्रभाव पड़ता है, जिनमें से कुछ ज्यादा महत्वपूर्ण हैं जो नीचे दिए गए हैं :

- जीवन का अधिकार
- मनमानी गिरफ्तारी, कैद या देश-निकाले के विरुद्ध संरक्षण
- विधि के समक्ष समानता और विधि का बराबर संरक्षण
- गुलामी और क्रूर, अमानवीय अथवा तिरस्कारपूर्ण व्यवहार से मुक्ति तथा गुलामों की खरीद-फरोख्त का निषेध
- सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार और मनमाने ढंग से वंचित किए जाने के विरुद्ध संरक्षण
- शान्तिपूर्ण सभा और बैठक करने का अधिकार

पिछले कुछ वर्षों के दौरान इन अधिकारों के संरक्षण से सम्बन्धित मुद्दों ने पर्याप्त ध्यान खींचा है और बहस को जन्म दिया है। ऐसा मुख्य रूप से इसलिए हुआ है क्योंकि पुलिस को एक ऐसा संगठन मान लिया गया है जो अपराध नियन्त्रण और कानून व व्यवस्था बनाए रखने की अपनी प्रमुख जिम्मेदारी निभाने में मानवाधिकारों के संरक्षण पर ध्यान नहीं दे सकती। पुलिसवालों को हर स्तर पर प्रशिक्षण पाठ्यक्रमों, सेमिनारों और कार्यशालाओं के माध्यम से संवेदनशील बनाने की जरूरत तो है ही, जरूरत इस बात की भी है कि प्रवर्तन के स्तर पर ही मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए कदम उठाए जाएँ और उनके अतिक्रमण या उल्लंघन को गम्भीरता से लिया जाए। आवश्यकता इस बात की है कि पुलिस वालों के विरुद्ध शिकायतों की जाँच के लिए विद्यमान मशीनरी को दुरुस्त किया जाए जिससे कि जनता का विश्वास बहाल हो। नागरिक-अधिकारों के अतिक्रमण को यह कहकर खारिज करने की प्रवृत्ति पर लगाम लगनी चाहिए कि ऐसे मामलों में कार्रवाई से पुलिसवालों के मनोबल पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। अनुभवों से पता चलता है कि दोषी कर्मचारियों को पर्याप्त रूप से और तुरन्त अनुशासित करने से पुलिसबल का मनोबल घटने की बजाय बढ़ता है क्योंकि इससे सही विचार रखने वाला वर्ग निर्धारित दिशा-निर्देशों का पालन करने के अपने संकल्प को पुष्ट हुआ पाता है। इसलिए पीड़ितों की शिकायतों के निवारण के लिए दोषी कर्मचारियों के विरुद्ध तुरन्त कार्रवाई में कभी भी न तो देर की जाए और न इसे टाला जाए जिससे कि ऐसे मामलों को प्रभावी ढंग से निपटाने की पुलिस की योग्यता के प्रति लोगों का विश्वास मजबूत हो। ऐसा करते हुए इस बात पर भी ध्यान दिया जाना बहुत जरूरी है कि अपराध के शिकार और स्वयं पुलिस अधिकारी भी वैसे ही मनुष्य हैं जिस प्रकार कानून की दृष्टि में कोई आरोपित, इसलिए वह भी मानवाधिकारों का उतना ही हकदार है। मानवाधिकारों का उल्लंघन केवल राज्य की एजेन्सियों द्वारा ही नहीं बल्कि राज्य से इतर अनेक समूहों जैसे समाज के प्रभावशाली वर्गों, आतंकवादी समूहों आदि द्वारा भी किया जाता है। नागरिकों को उनके दैनिक जीवन में शान्ति और व्यवस्था प्रदान करने के लिए राजनीतिक स्थायित्व भी स्वयं में अनिवार्य है। यह स्वयं में ही एक नागरिक का सबसे महत्वपूर्ण मानवाधिकार है।

लोकतान्त्रिक समाज, अन्य चीजों के साथ-साथ, अपने अस्तित्व के लिए दो कारकों पर निर्भर करता है, एक तो अपराध नियन्त्रण और कानून व व्यवस्था तथा दूसरा मानवाधिकारों का संरक्षण। परिणामस्वरूप ऐसे समाज की पुलिस व्यवस्था में इन दो जरूरतों, सामूहिक सुरक्षा और व्यक्तिगत अधिकारों, के बीच सन्तुलन बनाया जाना चाहिए। यह सन्तुलन प्राप्त करना एक जटिल और कठिन कार्य है। फिर भी उपयुक्त रणनीतियों और उपचारात्मक उपायों का विकास किया जाना चाहिए जिससे कि पुलिस बल, नागरिकों के अधिकारों का उल्लंघन किए बिना, अपने कर्तव्य का पालन कर सकें। यही वह बिन्दु है जहाँ अनेक मानवाधिकार समूहों और गैर-सरकारी संगठनों (एन जी ओ) तथा मानवाधिकार आयोग द्वारा सार्थक और बुनियादी पुलिस सुधार की प्रक्रिया शुरू करने की तत्काल जरूरत पर जोर दिया जा रहा है। चूँकि राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग के समक्ष आने वाली लगभग आधी शिकायतें पुलिस द्वारा अधिकारों के उल्लंघन की होती हैं, भारतीय पुलिस में चरणबद्ध सुधारों के लिए सतत आन्दोलन की अब और अनदेखी नहीं की जा सकती। केन्द्र और राज्यों में दोनों स्थानों पर राष्ट्रीय पुलिस आयोग (1977-81) और ऐसे अन्य निकायों द्वारा की गई सिफारिशों के प्रति सकारात्मक रवैया अपनाने के बारे में राजनीतिक विधायिका की बेरुखी को देखते हुए, उच्चतर न्यायपालिका ने भी राज्य और इसकी एजेन्सियों के मनमाने और अनुचित आचरण से नागरिकों को अत्यावश्यक राहत प्रदान करने की जिम्मेदारी सम्भाल ली है। आम भाषा में न्यायिक सक्रियता (Judicial activism) के नाम से प्रचलित, उच्चतम न्यायालय और अनेक उच्च न्यायालयों द्वारा पर्यावरण, स्वास्थ्य, हिरासत में हिंसा, औद्योगिक प्रदूषण, बन्धुआ मजदूरी और जनहित के अन्य अनेक मुद्दों पर जो तेजी और पहल दिखाई गई है, उसका भारतीय लोगों के मानवाधिकार संरक्षण में अमूल्य योगदान है, हालाँकि अभी भी खासकर पुलिस और जनता के अन्तर्सम्बन्धों को लेकर, बहुत कुछ किया जाना बाकी है। परिणाम ये हुआ है कि न्यायालयों के अनेक निर्णयों ने इस देश में शासन की समूची अवधारणा और परम्परा ही बदल दी है जो एक अच्छा लक्षण है।

राजनीतिकरण

सर्वत्र व्याप्त पुलिस का राजनीतिकरण एक दूसरी गम्भीर बीमारी है जिससे इस देश की पुलिस प्रणाली ग्रस्त है। भारतीय पुलिस के अपने आधारभूत अध्ययन में (The Police and Political Development in India—1966), प्रिन्सटन विश्वविद्यालय के तत्कालीन प्रो. डेविड बेले को पुलिस के मामलों में सफल राजनीतिक हस्तक्षेप के साक्ष्य मिले जिनमें से कुछ मामलों में अन्याय हुआ और पुलिस बल का मनोबल कमजोर हुआ। बेले ने, जो आज भी भारतीय पुलिस प्रणाली के गहन अध्येता हैं, 1982 में इसी विषय पर दुबारा लिखा

“पिछला दशक भारतीय पुलिस के लिए अभूतपूर्व दबाव का रहा है। संक्षेप में, वे पक्षपात की राजनीति में गहरे लिप्त हो गए हैं। इसे बोझिल है, इससे तार-तार हैं और अब व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से इसमें भाग लेते हैं। इस राजनीतिकरण से कानून के शासन में गिरावट आई है।” अन्य अनेक प्रख्यात लोगों द्वारा किए गए अध्ययन भी उपरोक्त अवधारणा को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त साक्ष्य देते हैं। पिछले दो दशकों के दौरान स्थिति हर तरह से बद से बदतर ही हुई है। हाल के इतिहास से अनेक ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनसे पता चलता है कि पुलिस द्वारा कार्रवाई करने अथवा कार्रवाई न करने के राजनीतिक कारण रहे हैं। पुलिस, राजनेताओं की ओर से अथवा उनके हितों की रक्षा के लिए, कानून के गम्भीर उल्लंघन के मामलों में या तो मूकदर्शक बनी रही है या निष्पक्ष ढंग से उसने अपने कर्तव्यों का निर्वाह नहीं किया है। कुछ मामलों में तो उन्होंने नागरिकों पर अपराध तक कर डाले हैं। हाल के इतिहास से कुछ ज्वलन्त उदाहरण, जो पुलिस-राजनीतिक गठजोड़ के दूषित पहलुओं को उजागर करते हैं, याद किए जा सकते हैं :

- दिल्ली और अन्य अनेक उत्तर भारतीय शहरों में, कांग्रेस पार्टी के नियन्त्रण में, 1984 में सिखों की हत्या जब पुलिस ने यह नरसंहार रोकने या इससे सख्ती से निपटने के लिए कोई कार्रवाई नहीं की। पुलिस ने सत्ताधारी दल के उन राजनेताओं के खिलाफ कार्रवाई में टालमटोल भी किया जिनके विरुद्ध न केवल दंगे भड़काने बल्कि उनमें सक्रियतापूर्वक भाग लेने और अन्य अपराध करने के पर्याप्त साक्ष्य थे। इन निष्कर्षों को अनेक समितियों और आयोगों ने पुष्ट किया है जिनमें सरकार द्वारा नियुक्त न्यायमूर्ति रंगनाथ मिश्र जाँच आयोग सम्मिलित है।
- 6 दिसम्बर 1992 को उ. प्र. के अयोध्या कस्बे में भारी पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों के साथ-साथ जिले के सभी उच्चाधिकारियों की उपस्थिति में बाबरी मस्जिद का विध्वंस जिसमें सभी एक धार्मिक ढाँचे को ढहाए जाने और इसको अपवित्र किए जाने में मूक दर्शक बने रहे।
- दिसम्बर 1992 और जनवरी 1993 में मुम्बई और अन्य आस-पास के स्थानों पर साम्प्रदायिक दंगे जिनमें पुलिस ने खुलकर पक्षपात किया और अल्पसंख्यक समुदाय के निर्दोष नागरिकों का नरसंहार होने दिया। बाद में जस्टिस श्रीकृष्ण जाँच आयोग ने पाया कि “दंगों से सम्बन्धित पंजीकृत मामलों की भी बेहद असन्तोषजनक जाँच-पड़ताल की गई। जाँच-पड़ताल में उत्साह की कमी, टालमटोल का रवैया और अताकिरता दिखी। साफ-साफ सबूतों के बावजूद उपद्रवियों को गिरफ्तार करके उनसे पूछताछ नहीं की गई, विशेष रूप से तब जबकि सन्देहास्पद आरोपित हिन्दू होते थे जिनका

शिवसेना से सम्बन्ध होता था या जो शिवसैनिक होते थे। आयोग के समक्ष साक्ष्य से संकेत मिलता है कि पुलिसवालों को दंगों, साम्प्रदायिक घटनाओं या लूट, आगजनी तथा अन्य घटनाओं में सक्रिय रूप से भाग लेते पाया गया।”

- अक्टूबर 1994 में उ. प्र. के मुजफ्फरनगर में उत्तराखण्ड आन्दोलनकारियों पर अत्याचार जिसमें निर्दोष नागरिकों पर पुलिसवालों द्वारा बलात्कार जैसे अपराध तक किए गए, सिर्फ इसलिए कि दिल्ली पहुँचकर अपनी माँगे रखने से उन्हें रोका जा सके जो कि उनका मौलिक अधिकार था। स्पष्ट है कि पुलिस राजनीतिक दिशा-निर्देश के तहत काम कर रही थी। बाद में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के आदेश पर सी बी आई ने मामलों की जाँच की और सम्बन्धित पुलिसवालों के विरुद्ध अभियोग लगाने लायक साक्ष्य पाए जिनमें से कुछ काफी उच्च स्तर के अधिकारी थे।
- तमिलनाडु के पूर्व मुख्य मन्त्री एम. करुणानिधि की कट्टर विरोधी, पराक्रमी जे. जयललिता द्वारा मई 2001 में उनसे सत्ता हस्तान्तरित करने के थोड़े ही दिनों के अन्दर चेन्नई पुलिस द्वारा उनके साथ किया गया क्रूर व्यवहार पुलिस के राजनीतिक दबाव में काम करने का सबसे बड़ा प्रमाण है। अर्द्धरात्रि के इस नाटक की टी वी पर तस्वीरों ने देश भर की जनता के दिलो-दिमाग पर गहरा असर डाला।
- फरवरी मार्च 2002 के महीनों में गुजरात में मुस्लिमों के खिलाफ धिक्कारणीय नरसंहार सबसे ताजा उदाहरण हैं कि किस प्रकार पूरे राज्य के पुलिस बल ने राजनैतिक आकाओं के साथ मिलकर बिलकुल गैर-जिम्मेदाराना ढंग से और क्रूरतापूर्वक नागरिकों के एक वर्ग को निशाना बनाया। इस भयंकर अपराध में सत्ताधारी दल के नेताओं के साथ गुजरात पुलिस की मिलीभगत को अनेक न्यायाधिकरणों, संस्थानों, एजेन्सियों, एन जी ओ और आयोगों द्वारा व्यापक रूप से रेखांकित किया गया है जिसमें मीडिया के अलावा राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग, भारत का निर्वाचन आयोग और अल्पसंख्यक आयोग सम्मिलित हैं।

सत्ताधारी लोगों से जुड़े अपराधों को निपटाने में भारतीय पुलिस का रिकार्ड ऐसा है जिससे आमतौर पर प्रचलित इस धारणा को बल मिलता है कि विधि प्रवर्तन के लिए बनी यह प्रमुख एजेन्सी विधि का शासन नहीं बनाए रख सकती जिस पर भारतीय गणतन्त्र की नींव टिकी हुई है। पुलिस या तो ऐसे अपराधों का संज्ञान ही नहीं लेती या जन-बूझकर लांच में देरी करती है अथवा गलत ढंग से जाँच करती है। यहाँ तक कि सी. बी. आई. को भी जिसकी अन्वेषण कुशलता को राज्य पुलिस से बेहतर माना जाता है, अब एक निष्पक्ष और व्यावसायिक अन्वेषण एजेन्सी होने की

गौरवपूर्ण स्थिति प्राप्त नहीं है।

इस बात के समर्थन में अनेक मामलों के उदाहरण दिए जा सकते हैं कि सी. बी. आई. ने सत्ताधारी दल के राजनेताओं अथवा उनके पिछलग्गुओं के खिलाफ मामलों में हाथ लगाने में अनिच्छा दिखाई और मजबूरन ऐसा करने पर टालमटोल की तरकीबें लगाईं। प्रायः राजनीतिक विरोधियों को तंग करने और उन्हें डराने के लिए भी मामले शुरू किए गए हैं। जिस तरह से 20 माह के आपातकाल (1975-1977) के दौरान सी. बी. आई. का दुरुपयोग किया गया और इससे छेड़छाड़ की गई, वह अब इतिहास बन चुका है लेकिन तब से इसका रिकार्ड बेहतर नहीं है। बोफोर्स फील्ड गन्स, एच. डी. डब्ल्यू. पनडुब्बियों, एयरबस 320, चेक पिस्टल्स, नुस्ती वाडिया, एस. गुरुमूर्ति, सेण्ट क्रिस्टस, चन्द्रास्वामी, जे. एम. एम., मुम्बई पोर्ट ट्रस्ट, हवाला इत्यादि जैसे अनेक मामलों में इसकी जाँच सन्देशास्पद अथवा गहरे विवादों से घिरी रही है। प्रवर्तन विभागों की अन्य शाखाओं सहित पुलिस और केन्द्रीय एजेन्सियों के ऐसे दुष्प्रेरित कार्यों की सूची प्रति वर्ष लम्बी होती जाती है। हवाला मामले में सत्ता से जुड़े लोगों के खिलाफ मामलों की जाँच करते समय अपने हाथ खींच लेने के लिए सी. बी. आई. को उच्चतम न्यायलय ने अनेक बार फटकारा।

यह मानने के लिए पर्याप्त साक्ष्य हैं कि भारतीय पुलिस साल-दर-साल व्यावसायिक कम और राजनीतिक अधिक होती जा रही है और यह गिरावट उनके कार्य के हर पहलू में दिख रही है। आश्चर्य की बात यह है कि व्यावसायिक मानदण्डों में यह गिरावट उस समय आई है जब पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों और साथ ही उनके बजट और अन्य संसाधनों का काफी विस्तार हुआ है। निश्चित तौर पर अब पुलिस की संख्या बढ़ी है, वे बेहतर हथियारों से लैस हुए हैं, बेहतर शिक्षित हैं और पहले से बेहतर प्रशिक्षित हैं। यह बिन्दु और बेहतर ढंग से समझा जा सकेगा अगर हम आजादी के बाद हुए भारतीय पुलिस के बहुविध विस्तार को समझें। 1947 में भारत में पुलिस की कुल जनशक्ति 3.81 लख थी। 1.1.98 तक सिर्फ राज्य पुलिस की संख्या 13.74 लाख हो गई थी। इसके अलावा सभी केन्द्रीय बलों की कुल मिलाकर 5.81 लख की जनशक्ति थी जिनमें से प्रायः सबका गठन आजादी के बाद हुआ। 1947 में भारतीय पुलिस का साजो-सामान बदतर था और उसके पास कुछ थोड़े से कमजोर वाहन थे। 1.1.98 को पुलिस के पास परिवहन के कुल 70,000 साधन थे जिनके साथ वायरलेस, टेलीफोन और संचार की अन्य सुविधाओं का विशाल नेटवर्क था। 1947 में पूरी तरह से सुविधा सम्पन्न एक भी फारेंसिक प्रयोगशाला नहीं थी, आज जाँच में वैज्ञानिक सहयोग के लिए 4 केन्द्रीय और 19 राज्य स्तरीय प्रयोगशालाएँ हैं। उस समय का अधिकांश सिपाही वर्ग निरक्षर या अर्द्ध-साक्षर था, जबकि आज सिपाही के लिए मैट्रिकुलेशन और उपनिरीक्षकों के लिए स्नातक न्यूनतम निर्धारित शैक्षिक योग्यता है। नए विचारों और तकनीक के सम्पर्क

से काफी उन्नति हुई है। इन सबका परिणाम यह हुआ है कि केन्द्र और राज्यों दोनों द्वारा 1951-52 में 58.73 करोड़ से लेकर 1997-98 में 9899.20 करोड़ तक पुलिस पर व्यय में काफी वृद्धि हुई है। लेकिन विधि प्रवर्तन करने वाली एजेन्सियों की ओर से लोगों को कुशलता, ईमानदारी, जवाबदेही और नम्रतापूर्ण व्यवहार के रूप में मिलने वाला प्रतिदान उन पर किए गए भारी निवेश का ठीक उलटा रहा है।

राजनीतिकरण और जनता के प्रति जवाबदेही का अभाव दो मुख्य कारण हैं जिनसे भारतीय पुलिस द्वारा जनता को गुणात्मक सेवा देने की क्षमता और इच्छाशक्ति बुरी तरह प्रभावित हुई हैं। जनता के प्रति किसी जवाबदेही का बिलकुल अभाव पुलिस प्रणाली की उस समग्र योजना और उनके दर्शन में अन्तर्निहित है जिसे 1861 के भारतीय पुलिस अधिनियम द्वारा भारत की ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाया गया था और जो आज आजादी के पचास वर्ष से ज्यादा होने के बाद भी पुलिस को नियन्त्रित करता है। राजनीतिकरण तो निश्चित तौर पर आजादी के बाद की स्थिति है। इस मामले में अनेक आधिकारिक टिप्पणियाँ उद्धृत की जा सकती हैं। एक प्रख्यात आई. पी. एस. अधिकारी पी. आर. राजगोपाल का विचार है, “एक पुलिस अधिकारी और राजनेता के बीच का गठजोड़ जितना पारस्परिक शोषण के लिए की गई व्यवस्था है, उतना ही पारस्परिक सहयोग के लिए भी। वे एक दूसरे के सहारे जीते हैं। ...इस बात को जोर देकर समझने की जरूरत है कि जब सत्ता में बैठे लोगों द्वारा अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए विभिन्न स्तरों पर पुलिस का प्रयोग कानूनों को तोड़ने अथवा उन्हें मोड़ने में ही किया जाता है तो सम्बन्धित लोग पुलिस को एक ऐसे अन्तहीन रास्ते पर धकेल रहे होते हैं जहाँ भविष्य में और भी महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में कानून के और भी गम्भीर उल्लंघन होने हैं। एक बार ऐसा हो जाने पर पुलिस के पास अपने को भटकने से रोकने का कोई उपाय नहीं है। संक्षेप में, जिम्मेदारी के पदों पर बैठे लोग उन्हीं साधनों से कानून के सम्मान में कमी कर रहे हैं, जिनके द्वारा उनका प्रवर्तन किया जाना चाहिए” (Violence and Response, A Critique of the Indian Criminal Justice System, New Delhi-1998)। राजनेताओं, खासकर सत्ताधारी वर्ग के और पुलिस अधिकारियों के बीच सहजीवी सम्बन्ध होने का प्रमाण इसी से मिलता है कि सरकार में बदलाव के साथ ही महानिदेशक से लेकर जनपद के पुलिस अधीक्षकों तक व्यापक फेरबदल होते हैं। इन नियुक्तियों का मुख्य आधार नए पदधारियों की व्यावहारिकता और निष्ठा होती है, उनकी व्यावसायिक योग्यता नहीं। इस प्रक्रिया में प्रतिभाशाली लेकिन निष्पक्ष अधिकारी हाशिए पर चले जाते हैं जिससे नीचे तक यही सन्देश जाता है कि प्रतिभा का कोई महत्त्व नहीं है और कानून के अनुसार साहसपूर्वक तथा उत्साहपूर्वक काम करने की जवानों की इच्छाशक्ति मारी जाती है। इस प्रकार यह कुछ राजनेताओं और अधिकारियों के बीच का सवाल नहीं रह जाता बल्कि पूरे संगठन को प्रभावित करता है। इसके अलावा जब वरिष्ठ अधिकारियों को राजनेताओं का

पिछलगू बनकर अपना कैरियर सुधारते देखा जाता है तो कमान और नियन्त्रण का उनका नैतिक बल बुरी तरह टूट जाता है। निचले स्तर के अधिकारी और जवान प्रभावशाली स्थानीय नेताओं से साँठगाँठ कर लेते हैं और यह मानकर चलते हैं कि राजनेताओं और पुलिस अधिकारियों के बीच विकसित होते सम्बन्धों की छत्रछाया में वे अपने गलत आचरण के बावजूद सुरक्षित रहेंगे।

इसके बाद कमान और नियन्त्रण की सांस्थानिक प्रणालियों, अनुशासन के प्रवर्तन और पर्यवेक्षकीय मानकों का अतिक्रमण करके अनेक अवांछित लक्षण विकसित हो जाते हैं जिसका परिणाम कार्यकुशलता में कमी, दण्डहीनता, भ्रष्टाचार में वृद्धि और अनुचित न्याय के रूप में सामने आता है। इससे जनता का विश्वास न केवल पुलिस से बल्कि पूरी शासन-व्यवस्था से भंग हो जाता है। राजनीति के अपराधीकरण में अप्रत्याशित वृद्धि, खराब और राजनीतिकरण से ग्रस्त पुलिस व्यवस्था का कार्य और कारण दोनों हैं जिससे प्रभावी पुलिस नेतृत्व में गिरावट आती है और पुलिस में विभिन्न स्तरों पर पुरस्कृत होने और भ्रष्टाचार के लिए दण्डित किए जाने से बचने के लिए बाहरी संरक्षण लेने की प्रवृत्ति बढ़ती है। पुलिस गैर-कानूनी गतिविधियों/हिरासत में हिंसा, खुले भ्रष्टाचार, खुले तौर पर आपराधिक गतिविधियोंकी बढ़ती घटनाओं के पीछे दुराचरण और अपराध के लिए सिद्ध मामलों में भी सजा न हो पाना एक महत्वपूर्ण कारक है। ऐसा हमेशा दोनों पक्षों के अवांछित तत्त्वों के सहजीवी सम्बन्ध के कारण ही नहीं होता बल्कि सत्ताधारी दल या राजनेताओं के समूह के व्यापक हितों की रक्षा करने की जरूरत के कारण भी होता है। इस प्रकार का सम्बन्ध सिर्फ राजनेताओं और पुलिस अधिकारियों तक ही सीमित नहीं होता। अन्य वर्ग, उदाहरण के लिए, अपराधी और नौकरशाह भी सम्बन्धों की इस शृंखला में महत्वपूर्ण कड़ियाँ बनाते हैं। आरोप लगाया जाता है कि ऐसा सम्बन्ध भिन्न-भिन्न स्तरों पर विद्यमान है।

वर्तमान समय में पुलिस व्यवस्था और राजनीति के बीच सम्बन्ध की जो स्थिति है, उससे विधि की सर्वोच्चता और जनता के प्रति कार्यपालिका की जवाबदेही तथा राज्य की वैधानिकता और इसकी प्रभुसत्ता व शासन करने का अधिकार क्षीण होते हैं। पुलिस पर किसी भी प्रकार का अवैधानिक राजनीतिक या अन्य दबाव से ही विधि का उल्लंघन होता है। पुलिस को अवांछित, अनुचित और अवैधानिक दबावों से बचाने की व्यवस्था की जानी चाहिए और जरूरी होना चाहिए कि वह देश के कानूनों के अनुसार काम करे। विधि प्रवर्तन एजेंसियों के लिए सवैधानिक बाध्यता है कि वे विधि और प्रक्रिया के अनुसार कार्य करें और विधि के शासन को मजबूत करें। जहाँ तक कानूनों का सवाल है उन्हें भी मानवाधिकार के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत परम्पराओं और मानकों पर खरा उतरना चाहिए। अपरिहार्य परिस्थितियों में अपराध, आतंकवाद या उग्रवाद जैसी विशेष स्थितियों से निपटने के लिए बनाया गया कोई आपातकालीन कानून विधि की पुस्तकों में लम्बे समय तक नहीं रहने दिया जाए। और ऐसे उपबन्ध को सम्बन्धित कानून में ही विनिर्दिष्ट किया जाना चाहिए। दक्षिण

अफ्रीका जैसे देशों का अनुभव बताता है कि अगर पुलिस को नागरिकों के अधिकार का सम्मान करने वाले और समुदाय की जरूरतों के प्रति अति संवेदनशील सेवा संगठन के रूप में विकसित होना है तो आपातकालीन कानूनों को खत्म कर दिया जाना चाहिए।

प्राप्ति-स्वीकार

विनिमय से प्राप्त पत्रिकाओं तथा पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

नन्हे मुक्तक, एन. गोपि, तेलुगु से अनुवाद; अनुवादक : डॉ. विजयराघव रेड्डी, प्रकाशक: क्षितिज, वी-8, नवीनशाहदरा, दिल्ली-110032. संस्करण: प्रथम, 2005; मूल्य: 160/- रुपए, पृष्ठ: 136.

एकोत्तरशति (20वीं शती के उत्तरार्ध की 101 तेलुगु कविताओं का हिंदी अनुवाद); अनुवादक: डॉ. विजयराघव रेड्डी, प्रकाशक : राष्ट्रनायक 16-9-330/ए, ओल्ड मलकपेट, कागज कारखाना के निकट, हैदराबाद-500036; संस्करण : प्रथम, 2006, मूल्य: 250/- रुपए, पृष्ठ : 202.

विचारधारा का सच - डॉ. शिवदास पाण्डेय, समीक्षा प्रकाशन, विकाश मार्ग, शकरपुर, नयी दिल्ली-110092; छोटी कल्याणी, मुजफ्फरपुर- 842001, प्रथम संस्करण-2001, मूल्य 150/- रुपए।

समवेत सुमन (ग्रंथमाला-6), संपादक: देवेन्द्र सिंह 'दाऊ', प्रकाशक: कछवाहधार साहित्य सृजन-समितिकार्यालय : रौन, भिण्ड (म. प्र.), नवीन संस्करण : वर्ष प्रतिपदा 30 मार्च, 2006, मूल्य : 51/- रुपए, पृष्ठ : 72.

वैतालिक: सङ्कल्प, सम्पादक : कुमार सौरभ, प्रथम संस्करण: 2006, मुद्रक : गीता प्रकाशन, रामकोट, हैदराबाद-500001. मूल्य: 35/- रुपए, पृष्ठ: 64.

जनप्रहरी जनवादी लेखक संघ, दार्जिलिंग की अनियतकालिक पत्रिका, अंक 2, जुलाई 2005, संपादक : ओम प्रकाश पाण्डेय, सम्पर्क : सम्पादकीय कार्यालय तथा पत्र व्यवहार : ओम प्रकाश पाण्डेय, 180-ए, सेन्ट्रल कॉलोनी, पो. भक्तिनगर (एन. जे. पी.), सिलीगुड़ी-734007 (प. बंगाल); मूल्य : 35/- रुपए, पृष्ठ: 86.

कल्पान्त, दिल्ली का अपना पत्र, मई 2006, संपादक : मुरारीलाल त्यागी, 1962, त्रिनगर, दिल्ली-35 से प्रकाशित; मूल्य: 10/- रुपए, पृष्ठ : 34.

चिन्तन-सृजन का स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

फार्म-4

नियम-8

1. प्रकाशन स्थान : दिल्ली
2. प्रकाशन अवधि : त्रैमासिक
3. स्वामी : आस्था भारती, नई दिल्ली
4. मुद्रक : डॉ. बी. बी. कुमार
(क्या भारत के निवासी हैं?) हाँ, भारतीय
पता 26/501, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
5. प्रकाशक : डॉ. बी. बी. कुमार
सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?) हाँ, भारतीय
पता 26/501, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
6. सम्पादक : डॉ. बी. बी. कुमार
सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?) हाँ, भारतीय
पता 26/501, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096

मैं डॉ. बी. बी. कुमार घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

(ह.) डॉ. बी. बी. कुमार

प्रकाशक

18.6.2006

पुस्तक-चर्चा

शल्य जी का काव्य-विमर्श

मुकुन्द लाठ*

काव्य-विमर्श शल्य जी के साहित्य विषयक निबन्धों का संग्रह है। उनके विमर्श के यहाँ दो भिन्न पर एक-दूसरे के पूरक पक्ष देखे जा सकते हैं। विषय-सूची ही लेखों को दो भागों में बाँटती है। दूसरे भाग या वर्ग को 'समीक्षाएँ' कहा गया है। पहले वर्ग का कोई अलग शीर्षक या अभिधान नहीं है, पर इसे 'विचार', 'दर्शन', 'अन्वीक्षा' की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसे साहित्य या काव्य के स्वरूप और अर्थ का अवलोकन-अवगाहन भी कहा जा सकता है। पर ध्यातव्य है कि शल्य जी के साहित्य या काव्य सम्बन्धी आधारगत विचार कला के पूरे क्षेत्र में व्यापक हैं।

लेकिन शल्य जी की 'समीक्षाएँ' साहित्य को ही विषय बनाती हैं, अन्य कलाओं को नहीं। उनकी संवेदना में और यों उनकी आलोचक दृष्टि में साहित्य ही अधिक उभर कर जागता है। पर शल्य जी के विचार में थोड़ा उतरकर देखें तो उनका गहनतम अभिनिवेश दर्शन और तत्त्व-चिन्तन के प्रति है। फिर भी उन्होंने बड़ी परख-प्राशिनक सहृदयताके साथ साहित्य पर भी बहुत लिखा है। उनकी पहली पुस्तक ही पंत के काव्य पर थी। **काव्य-विमर्श** में उनकी अपेक्षया सांप्रतिक समालोचनाओं का संग्रह है। एक बात शल्य जी की समीक्षाओं में पाठक को पहले ही गोचर हो सकती है : शल्य जी की समीक्षाओं में उनकी संवेदना ही आगे आती है, उनका दर्शन या (तत्त्व) चिन्तन नहीं। वह परोक्ष, नेपथ्य में ही रहता है; आगे आता भी है तो संवेदना के भीतर से ही उभरता हुआ आता है। इसका एक बड़ा कारण यह है कि उनकी संवेदना कृति के विशेष पर ही निविष्ट रहती है जो कि आज की 'सरोकार'-भरी आलोचना में कम ही देखने को मिलता है। उनकी काव्य की (साहित्य की) पकड़ किसी वाद या वाद-गर्भ-आदर्श (आइडियोलॉजी) या विचार-तंत्र के पटल पर साहित्य को नहीं देखती-आँकती; संवेदना, उनके यहाँ, कृति की ओर उन्मुख रहती है, कृतियों का भावन करते हुए उनके कृतित्व को उभारती दिखती है। किसी कवि का मूल्यांकन भी उसकी कृतियों में उतरते हुए करती है। कृति प्रधान है उनकी समीक्षा में, जैसा कि

* काव्य-विमर्श, ले. यशदेव शल्य, प्रकाशकदर्शन प्रतिष्ठान, पी-51, मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर तथा राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ.सं. 234, मूल्य 250/-

* भारत के प्रख्याव चिन्तक, दार्शनिक।

साहित्य (और कला) समीक्षाओं में होना चाहिए, पर अक्सर समीक्षकों के दूसरे (वैचारिक) सरोकारों में कृति गौण हो जाती है, खो जाती है।

शल्य जी के विचार से परिचय हो तो शल्य जी के इस कृतिनिष्ठ अभिनिवेश का समर्थन उनके साहित्य (और कला) के स्वरूप सम्बन्धी चिन्तन में भी देख सकते हैं। वे कला के अपने साध्य को विचार और दर्शन से पृथक् देखते हैं और कला-सृजन की उपलब्धि का संकेत कला-कृति में ही मानते हैं। कहा जा सकता है कि उनके साहित्य-विषयक दर्शन या तत्त्व चिन्तन की प्रेरणा उनकी संवेदना को ही आधार बनाती है, पर दोनों अपनी-अपनी जगह अलग और स्वतंत्र भी रहते हैं। उनका विचार संवेदना को ऊँच रखता हुआ भी व्यापकतर दार्शनिक दृष्टि और युक्ति में घर करता है।

संवेदना की समीक्षा में रूप लेती अभिव्यक्ति तत्त्व-विचार और दर्शन की सिद्धान्त-उन्मुख अन्वीक्षा से भिन्न होती है। यह नहीं कि उसमें विचार या मौलिकता का अभाव होता है, पर विचार ही यहाँ भावन की दिशा लेता है। इसलिए अपनी सी भाषा भी अलग चाहता है। यह भाषा उसी तरह समीक्षक के लिए साध्य होती है, या कहिए कि सृजन का विषय होती है, जितनी दार्शनिक के लिए दर्शन की भाषा होती है। रूढ़ि या गतानुगतिकता का दोनों में ही स्थान नहीं (जैसा काव्य में भी नहीं है)। दर्शन से विमुख-सी हिन्दी में दर्शन करते हुए शल्य जी (और उनके पाठकों के लिए) दर्शन की भाषा का सिद्ध नहीं साध्य होना तो और भी साक्षात् सी बात है। शल्य जी कहते भी हैं कि उन्हें अपने विचार के साथ-साथ ही अपने विचार की भाषा भी गढ़नी पड़ी है। दूसरे स्वतंत्र विचारक भी यही करते हैं। स्वतंत्र समीक्षक भी यही करता है। अचंभा नहीं कि जैसी कृति-निष्ठ समीक्षा शल्य जी करते हैं उसके लिए उन्हें गढ़ी-गढ़ाई भाषा नहीं मिली है, भाषा का संधान करना पड़ा है उनकी समीक्षाओं से यह बात उभरती भी है। तभी उनकी एक व्यक्तिगत शैली दीखती है वहाँ। शैली का संवेदना से सम्बन्ध सहज है। सहृदयता कविता ही की तरह निजस्व होती है। यह नहीं कि उसमें सामान्यता नहीं होती (इसके बिना तो वह कुछ कहेगी ही नहीं), पर उसकी सामान्यता में कविता ही की तरह भावन का प्रकाश होता है, जो दर्शन से कहीं अधिक, और कहीं प्रकट रूप से व्यंजना की ओर मुड़ता है। तभी शैली की ओर भी मुड़ता है।

पर शल्य जी की विलक्षणता उनके कला के तत्त्व या स्वरूप विषयक विमर्श में ही है। यहाँ उनकी दृष्टि को सचमुच अपूर्व कहा जा सकता है। शल्य जी की बात उनकी अपनी है, उन्हीं की उद्भावना है, उस पर प्रभाव है तो उन्हीं के अपने व्यापकतर दर्शन का। किसी चले आते, उपलब्ध और यों पारम्परिक (पश्चिमी या भारतीय) दर्शन से अस्पृष्ट ही उभरता है। रस चिन्तन की वे बात करते हैं, पर उसे पूर्व पक्ष बनाते

हैं उससे 'प्रभावित' बिलकुल नहीं कहे जा सकते; बल्कि उसे वे साहित्य (और कला) के मर्म और तत्त्व को समझने के लिए अपर्याप्त ही नहीं अयुक्त समझते हैं।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि शल्य जी के विचार का आरम्भ उसी प्रश्न से है जिससे हमारी काव्य-विमर्श परम्परा चली है : काव्य की 'आत्मा' क्या है? अर्थात् काव्य का स्वरूप उसका तत्त्व, उसका मर्म क्या है? उसका व्यावर्तक या अवच्छेदक लक्षण क्या है? जो उसे अभिव्यक्ति के दूसरे क्षेत्रों से अलग करता है। यह सीधा-सीधा दार्शनिक प्रश्न है, संवेदना का प्रश्न नहीं जो पूछती-देखती-जाँचती है कि इस कृति में कविता क्या है?

'काव्य की आत्मा क्या है?' इसका हमारे यहाँ प्रसिद्धतम और गम्भीरतम उत्तर है 'रस'। बाद के चिन्तकों में यह भी दिखता है कि नाट्य से चलकर काव्य तक फैलता हुआ रस कला-मात्र की 'आत्मा' का रूप ले लेता है। आज भी इस बोध की जड़ें गहरी हैं, चाहे अक्सर यह विचार का संस्कार मात्र हो। संगीत में, नृत्य-नृत्त में, चित्र में शायद वास्तु को छोड़कर सभी शिष्ट, उदात्त कलाओं में रस को तत्-तत् कला-कर्म का स्वरूप और मर्म-प्रयोजन या उपेय मानते हैं हम। शल्य जी का चिन्तन अपनी तत्त्व-दृष्टि में साहित्य को ही नहीं, कला मात्र को सँजोता है, हालाँकि उनकी संवेदना की सूक्ष्मता साहित्य की ओर ही अधिक प्रवण है।

रस चिन्तन में मनन का एक गांभीर्य है; युक्तिनिष्ठ तटस्थता के साथ विचार की व्यापकता, सामान्यता और समग्रता है जो उसे सचमुच दर्शन की कोटि में रखती है। पश्चिम में ऐसी विचारनिष्ठता के साथ कला के प्रति अभिनिवेश नया है। 18वीं, 19वीं सदी के बाद का ही है, उसके पहले कला पर चिन्तन छिटपुट है; 'सौन्दर्य' (ब्यूटी) पर चिन्तन है, पर अवधेय अपने आप में कला नहीं है। पश्चिम में कला पर चिन्तन जब उभरता भी है तो एक बड़ा आग्रह कला को सभ्यता और सभ्यता के इतिहास के सन्दर्भ में देखने का उभरता है। कला का इतिहास कला की समझ का एक आवश्यक सा अंग बग जाता है। कला के विभिन्न सरोकारों, प्रयोजनों, समाजनैतिक, राजनैतिक वादों, प्रवृत्तियों से उसके सम्बन्धों की बात तूल पकड़ती दिखती है। मनुष्य की रहनी में कला का स्थान, उसका औचित्य, उसका उपयोग प्रश्न बड़े हो जाते हैं। मार्क्सवाद के साथ तो क्रान्ति के दूसरे हथियारों में कला भी एक हथियार हो जाती है, जैसा कि शल्य जी ने पुस्तक के पहले ही लेख में कहा भी है। 'कला कला के लिए' के नाम पर इसका विरोध भी होता है। (इन प्रवृत्तियों से हम परिचित हैं, हमारे यहाँ भी कला-विचार में ये बातें पश्चिम की छाया की तरह उभरी हैं)। पर इस सारे विचार में ('कला कला के लिए' की धारणा में भी) कला क्या है? कला का स्वरूप क्या है? यह आधार प्रश्न धूमिल ही हो जाता है। ऐसा नहीं है कि प्रश्न उभरता नहीं, पर कला विचार की दूसरी चिन्ताओं में उसका स्वर डूबा सा रहता है। पश्चिम में और उसके पीछे चलते हमारे आज के चिन्तन में इस प्रश्न का वह महत्त्व नहीं, जैसा हमारे यहाँ

रहा है। (हमारे पारम्परिक कहलाते चिन्तन में आज भी ऊह्य है)। शल्य जी के लिए यह प्रश्न कला-विषयक केन्द्रीय प्रश्न है। उस पर उन्होंने जो चिन्तन किया है, और साहित्य (एवं कला) के जिस लक्षणया सिद्धान्तपर वे पहुँचे हैं, मैं यहाँ अपने इस लेख में, उसीके उद्घाटन में अधिक व्यस्त रहूँगा। इसलिए भी कि **काव्य-विमर्श** के उनके सारे ऐसे लेख, जिन्हें अन्वीक्षापरक कहा जा सकता है, प्रायः उन सबमें उनका काव्य-तत्त्व विषयक चिन्तन ऊह्य है। **काव्य-विमर्श** की भूमिका में वे स्वयं भी यह बात स्वीकारते हैं।

जैसा कह चुका हूँ, शल्य जी के कला-चिन्तन में उतरना हो तो उसका सही सन्दर्भ उनका अपना ही व्यापकतर तत्त्व चिन्तन है। शल्य जी की अपनी स्वतंत्र तत्त्व-दृष्टि पश्चिम या पूर्व की दर्शन परम्परा से स्वतंत्र है। वे अपने आप को वेदान्ती मानते हैं, परम-तत्त्व की अद्वयता भी स्वीकारते हैं। पर उनका वेदान्त दर्शन भारतीय दर्शन के किसी भी अद्वैती वेदान्त-सम्प्रदाय-दर्शन से बिल्कुल अलग है। उनके सम्पूर्ण चिन्तन को और उसीके भीतर से उभरते-उनके कला चिन्तन को 'आधुनिक भारतीय' कहना उपयुक्त लगता है। पर उनके दर्शन की चर्चा कम होती है और हमारे ही चिन्तन की आधुनिक अभिव्यक्ति के रूप में तो और भी कम (शायद इसलिए भी कि हम ऐसी आधुनिकता से घबराते हैं जो नितान्त हमारी अपनी हो।)

पर शल्य जी का कला-चिन्तन आज हमारी साहित्य और कला चर्चाओं में प्रासंगिक है।

इसलिए भी कि रस-सिद्धान्त से असंतोष व्यापक है। इसका एक गहरा कारण यह कहा जा सकता है कि रस-सिद्धान्त में कला के प्रति जो दृष्टि और अभिनिवेश है, उसमें एक उथलापन दिखता है। वह अपर्याप्त ही नहीं, हेय, अनुचित लगता है आज। रस-विचार में कितनी ही सूझ हो, वह कला को देखता 'आस्वाद' के रूप में है। कला वहाँ 'रंजन', 'विनोद' की वस्तु ठहरती है, चाहे यह रंजन निरा 'भोग' नहीं हो, चेतना की इन्द्रिय से ऊपर उठती सूक्ष्मतर भूमि पर होता होया पुराने ही शब्दों में, 'सात्त्विक' हो। पर है यह भोग-व्यापार ही। रस-दृष्टि में कला का सम्बन्ध 'रसना-व्यापार' से भी बैठाया जाता है, जिसे कार्य-कारण से भिन्न एक सहृदयता-निष्ठ स्वतन्त्र व्यापार कहा गया है; पर यों भी बात, आखिर को, भोक्तृत्व की ही रहती है, चेतना की किसी गहनतर, गम्भीरतर तलाश से नहीं जुड़ती। पर सार्थक, महत् कला में ऐसी ही तलाश आज हम ढूँढ़ते-पाते हैं। तभी कला की महिमा आज उसके 'रस' में नहीं, उसके 'सत्य' में है। यही एक बड़ा कारण है कि कला का आज 'यथार्थ' में निष्ठित मानी जाने वाली विचारधाराओं, वादों और इनसे संश्लिष्ट सामाजिक-राजनैतिक आदर्शों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है; यह कला को विचार जैसा ही 'सत्य' का सरोकार देता है, उसे 'सच्च' आत्मबोध और जगत्-बोध में निष्ठित करना चाहता है। कला के प्रति 'प्रबुद्ध' मनोभाव आज सत्यनिष्ठ नहीं तो कम से कम सत्य-संध दृष्टि का है,

'आस्वाद' अप्रासंगिक है या 'निचली', हेय, केवल मनोरंजन करती कला का लक्षण है।

पर 'सत्य' जैसे शब्द का एक बड़प्पन के आशय से प्रयोग कर देना ही उसे कला-विचार का युक्त, समंजस प्रत्यय नहीं बना देता। इसके लिए दार्शनिक विमर्श और सूझ की अपेक्षा है जो चिन्तन की अपनी प्रतिभा, अपनी मीमांसा चाहती है। शल्य जी का कला-चिन्तन इसी दृष्टि से विशेष अनुद्ध्य है।

वे भी कला-कृति का लक्ष्य, उसकी 'निष्पत्ति', 'रस' में नहीं 'सत्य' में देखते हैं। पर उनकी दृष्टि एक आकांक्षा या आग्रह मात्र नहीं जैसा कि आज के लेखन में छलक कर उभरता है बल्कि वे अपनी दृष्टि को युक्ति का आधार देते हैं; विमर्श के साथ दर्शन की पदावली में अपनी बात को रूप देते हैं। ऐसा विमर्श दर्शन का अपना सन्दर्भ और अंतरिक्ष चाहता है। (**काव्य-विमर्श** में संगृहीत) छोटे, छिटपुट और प्रसंग-भेद से लिखे गए लेखों में मूल विचार को मान कर ही भिन्न दिशाओं में आगे बढ़ा जा सकता है। तभी पुस्तक के 'प्राक्कथन' में पाठक का ध्यान शल्य जी ने अपनी **मूल्यतत्त्व-मीमांसा** और **चिद्विमर्श**, इन पुस्तकों की ओर दिलाया है, जहाँ उनके काव्य (और कला) विषयक सिद्धान्त का व्यवस्थित प्रतिपादन हुआ है। उन्हीं के शब्दों में, यह प्रतिपादन उनके 'प्रस्तुत पुस्तक में संकलित निबन्धों की पृष्ठभूमि बनाता है'।

तो **काव्य-विमर्श** में उनके विमर्श को और पैठ के साथ समझने के लिए उनके कला-सम्बन्धी दर्शन का साथ ही उनकी समग्र तत्त्व दृष्टि का कुछ खुलासा आवश्यक कहा जा सकता है। मैं यहाँ अपनी तरह से यही काम करूँगा। उनके बृहत्तर दर्शन का जितना परिचय आवश्यक समझूँगा दूँगा, पर अवधान उनके कला-दर्शन पर ही रखूँगा। विस्तार के लिए तो यों भी शल्य जी को ही पढ़ना उचित होगा। उनका पूरा चिन्तन अपने आप में अवधेय है।

यह सोचना सहज है कि सत्य का संधान ज्ञान करता है, भावना नहीं, भावना तो उस संधान में विघ्न ही खड़ा कर सकती है। साहित्य और कला का सम्बन्ध जब भावना से ही है तो वहाँ सत्य की बात कैसी? वहाँ तो 'रस' या सौन्दर्य जैसी ही धारणाएँ उपयुक्त हैं, जिनका सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं। बात को कुछ और व्यापक बनाते हुए यों कह सकते हैं कि होने को ज्ञान होता तो विषयी को है (विषयी के बिना विषय नहीं होता) पर ज्ञान विषय के विषयी से स्वतंत्र स्वरूप का विषय के अपने *वस्तुत्व* का संधान करता है। यही सत्य का संधान है, जिसमें ज्ञान विषय के स्वरूप का प्रत्यय के रूप में ग्रहण-धारण करता है। यही सत्य का ग्रहण-धारण होता है तभी कहते हैं कि प्रत्यय का वस्तु के अनुकूल होना 'सत्य' है। पर सत्य का संधान, या ज्ञान की विषय-उन्मुख-वृत्ति यह होती तो विषयी में ही है, चाहे यह विषय को विषयी से स्वतंत्र रखना चाहती हो। यह वृत्ति अपने ज्ञान-व्यापार में विषयी का हस्तक्षेप नहीं चाहती-विषयी को अलग रख देना, हटाना ही चाहती है; विशुद्ध, अनन्य भाव से

विषय की द्रष्टा हो जाना चाहती है ज्ञान-वृत्ति। पर विषयी से स्वतंत्र होने उसे हटाने या अलग रख देने का क्या अर्थ? विषयी के बिना ज्ञानया किसी भी वृत्तिके होने का प्रश्न ही क्या? विषयी से विमुक्त होने का अर्थ ज्ञान-वृत्ति की तटस्थता, अनाविल द्रष्टृता और विषय-केन्द्रिकता (या वस्तु-तन्त्रता) ही हो सकता है, विषयी को ही हटा देना, या उससे अलग हो जाना नहीं। विषयिता आड़े आती है ज्ञान में। पर विषयिता का यहाँ अर्थ क्या, जिससे ज्ञान की सत्य-संध वस्तु-तन्त्रता छुटकारा चाहती है? यह विषयिता हमारी भावनाएँ हैं; जिनमें सुख-दुःख, राग-द्वेष, इच्छाएँ-आकांक्षाएँ...सब शामिल हैं। विषयिता का परिसर और भी बड़ा है। इसमें हमारी शारीरिक अनुभूतियाँ, चेष्टाएँ भी आ जाती हैं, और हमारी रुचियाँ, हमारे अभिमत, हमारे विचारगत आग्रह, पक्षपात, संस्कार, ये भी आते हैं, और साथ ही हमारी कर्म की प्रवृत्तियाँ, अभीप्साएँ, संकल्प, प्रयत्न, इन्हें भी गिनाया जा सकता है, हमारे विचार का *अनुभव* भी इसी परिसर में आता है : यों हमारा सारा भुक्त-अनुभूत जगत् इसमें समाता है। कह सकते हैं कि हमारा मनुष्य-भाव ही हमारी विषयिता है। पर विशेषकर हमारा भोक्तृत्व, भावयित्रित्व, कर्तृत्व ये हमारी विषयिता को रूप देते हैं। इसलिए ज्ञान या विचार भी, जहाँ तक वह अनुभूति का, और भोग, भावना या कर्म का अंग होता है, वह भी विषयिता का अंग होता ही है।

ज्ञान एक संधान है। उसे 'संधान' की एक वृत्ति भी कहा जा सकता है एक ऐसी अन्वेषणा जो वस्तु का वस्तु के ही रूप में अध्यवसाय करना चाहती है। यही सत्य की भी खोज है। यों ज्ञान निश्चेष्ट, निष्क्रिय वृत्ति नहीं है। एक दर्पण नहीं है ज्ञान जिस पर वस्तु अपना प्रतिबिम्ब डाल देती है। ज्ञान का अपना कृतित्व होता है, अपनी दृष्टि, अपनी परीक्षा होती है विषयिता से अपने को दूर रखना ज्ञान का अपना *प्रयत्न* हैतभी ज्ञान का सम्बन्ध प्रमाणों से है जो ज्ञान के माध्यम बनते हैं, ज्ञान का संधान उनका सचेष्ट, सविचार *विनियोग करता है*। ज्ञान हमारी जिज्ञासा का फल है, जो प्रश्न करती है, भ्रान्ति या मिथ्यात्व का निवारण करती चलती है। ज्ञान के सत्य-संधान में विषयी-भाव का निवारण इसलिए होता है कि यह ज्ञान की सत्य-दृष्टि को भ्रान्त कर देता है, मोहित कर मिथ्या की ओर ले जाता है।

पर अगर ज्ञान के लिए सत्य एक संधान है तो सत्य अर्थ भी है। विषय या वस्तु के सत्य का अन्वेषण वस्तु के अर्थ की ओर ही उन्मुख होता है। चेतना के संधान अर्थ के ही संधान होते हैं। यह संधान इच्छा, वासना, कई स्तरों पर हो सकता है। सत्य का संधान स्पष्ट ही एक ऊर्ध्वतर संधान है। ज्ञान की वृत्ति एक अर्थ-खोजती वृत्ति ही है जो वस्तु के स्वतंत्र वस्तुत्व का अर्थ खोजती हैयही ज्ञान का प्रयोजन है : वस्तु के सत्य को पा लेना। ज्ञान में हम सत्य का ग्रहण प्राप्तव्य, साध्य अर्थ के रूप में ही करते हैं। ज्ञान का पुरुषार्थ है सत्य।

मैं शल्य जी के चिन्तन को ध्यान में रखते हुए ही 'सत्य' को 'अर्थ' से एक कर रहा हूँ। 'सत्य' का 'अर्थ' होना इस बात से भी प्रकट है कि ज्ञान की विभिन्न दृष्टियों में भेद गहरा होता है। दर्शन के क्षेत्र में यह स्पष्ट ही देखा जा सकता है। दर्शन की दृष्टियों का संधान सत्य ही होता है, तब भी जब कोई दर्शन सत्य के होने का ही निषेध करे। 'सत्य नहीं है, या उसका होना सर्वथा संदिग्ध है', यह अध्यवसाय ज्ञान का ही अध्यवसाय है। ज्ञान के विषय या 'वस्तु' का सत्य। वस्तु-सत्य का संधान ही ज्ञान की परस्पर-भिन्न दृष्टियों को जन्म देता है वस्तु क्या है? इस *ज्ञान के प्रश्न से* चलते हुए ही भिन्न दृष्टियाँ बड़ी तटस्थ, प्रमाणनिष्ठ ज्ञान-वृत्ति के साथबहुत भिन्न निष्कर्षों पर पहुँचती हैं। कुछ आत्यंतिक दृष्टियाँ तो विषय मात्र को ही भ्रान्ति या कल्पना या अज्ञान कह देती हैं, उनके लिए 'वस्तुत्व' का सत्य यह जान लेने में है कि 'वस्तुत्व' ही कल्पना हैवस्तु स्वलक्षण है, ज्ञान वस्तु तक नहीं पहुँच सकता; पर मनुष्य की विषय-कल्पना में एक योजना है, सर्व-साधारण वस्तु का वही उपक्षेप करती है। दृष्टियों के विस्तार में जाना यहाँ अनावश्यक है। पर स्पष्ट ही ये दृष्टियाँ सत्य की ही दृष्टियाँ हैं जो चेतना की विषय-उन्मुख वृत्ति से वस्तु के 'यथार्थ' को यथार्थेन ढूँढ़ती हैं। दृष्टि-भेद से सत्य का स्वरूप भिन्न उभरता है, पर वह रहता चेतना के लिए एक विषयी-को-हटाता अन्वेषण है। विज्ञान भी इन्हीं दृष्टियों में एक दृष्टि है, चाहे आज उसे ही सत्य की ऐकान्तिक दृष्टि और 'ज्ञान' का एकमात्र प्रतिमान मानने का आग्रह क्यों न हो।

आम तौर पर सत्य का प्रश्न हम इन्द्रिय-बोध के स्तर पर उठाते हैं, तभी प्रत्यक्ष को और प्रत्यक्ष पर आधारित प्रमाण को हम वस्तु के लिए आधारगत प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष के माध्यम से ग्रहण-धारण (यह ज्ञान) प्रत्ययों में होता है जो सामान्य होते हैं। ऐसा न हो तो ग्रहण-धारण ही सम्भव न होदूसरे शब्दों में, ज्ञान ही सम्भव न हो। और न अनुमान सम्भव हो, जिसके बिना ज्ञान की बात नहीं की जा सकती। अनुमान की और तर्क की व्याप्ति प्रत्ययों के बीच की व्याप्ति होती है। विचार मात्र प्रत्ययों में होता है; तभी विचार के बिना ज्ञान नहीं होता। प्रत्यय अकेला नहीं होता, अन्य प्रत्ययों द्वारा व्याप्त या व्यावृत्त होता है; व्याप्ति, व्यावृत्ति विचार करता है; यों ज्ञान का प्रत्यय से सम्बन्ध विचार को सहज आभासित करता है। विचार का गहरा सम्बन्ध दृष्टि से है : ज्ञान की विभिन्न दृष्टियाँ विचार की ही दृष्टियाँ हैं। पर यहाँ विचार की अपनी गति में जाना प्रसंगान्तर हो जाएगा, फिर भी यह मन में रखना चाहिए कि ज्ञान की वस्तु, उसका सत्य अगर जिज्ञासा और प्रमाण-व्यापार की अपेक्षा रखता है तो विचार के बिना सत्य की बात वृथा है।

स्पष्ट ही विचार का सम्बन्ध केवल इन्द्रियगत विषयों में ही नहीं होता, उसके और भी विषय हैं। राजनीतिक-सामाजिक वाद, आदर्श, सत्य-सम्बन्धी विवाद, मत, विचारधाराएँ, उनकी प्रासंगिकता, युग का स्वरूप युग-बोध...ये सभी विचार के विषय

हैं। विचार और ज्ञान को एक ही कह देनाउनको पर्याय ठहरा देनातो ठीक नहीं होगा; विचार में एक चरिष्णु खुलापन होता है, जबकि ज्ञान एक सत्य-निश्चय या प्रमाण-गर्भ अध्यवसाय के आश्वास पर स्थिर हो जाना चाहता है। तो भी ज्ञान विचार के बिना नहीं होता। विचार का संधान भी ज्ञान ही की तरह अपने विषय का सत्य ही होता; विचार अपने विषय के तत् या स्वरूप के ही अवगाहन-उद्घाटन की ओर उन्मुख होता है। यों विचार ज्ञान से व्यापक होता हुआ भी ज्ञानमुखी होता है। सत्य के सिद्धान्त बनाता है।

यहाँ ध्यान में रखने की बात यह है कि ज्ञान हो या विचार, ये जिसका ग्रहण करते हैं वह उनका 'विषय' होता है और इस ग्रहण में उनके लिए विषयी कोभावनाओं, आग्रहों आदि कोनिश्चेष्ट रखना अभिप्रेत होता है।

स्पष्ट ही ज्ञान या विचार के विषयों का प्रसार विराट् है। हमारी भावनाएँ, सुख-दुःख, शरीर और इन्द्रिय की अनुभूतियाँ, आवेग, व्यग्रताएँ, इच्छाएँ, अभीप्साएँ, आशाएँ, आकांक्षाएँ, चिन्ताएँ, कर्म की आन्तर और बाह्य प्रवृत्तियाँ : संकल्प, विवेक, प्रयत्न, आचरण, शील, व्यवहारदूसरे शब्दों में हमारा भोक्तृत्व भावयित्रित्व, कर्तृत्व, ये भी विचार और ज्ञान के क्षेत्र हैं। पर ये क्षेत्र प्रवृत्ति के भी क्षेत्र हैं, इसलिए ये स्वरूप-ज्ञान के ही नहीं साध्यता-विधान के भी क्षेत्र हैं। मनोचिकित्सा-विज्ञान और नाट्यशास्त्र अपनी-अपनी तरह से भावों के वर्णन-लक्षण का ही विधान का भी विषय बनाते हैं। पुरानी शब्दावली में मनोविज्ञान अगर 'लक्षण'-शास्त्र है तो मनोचिकित्सा शास्त्र 'शासन'-शास्त्र है। मनुष्य-भाव से सम्बन्ध रखने वाले सारे क्षेत्रों में लक्षण और शासन के भेद के साथ इनका युगपद्-भाव देखा जा सकता है; चूँकि मनुष्य-भाव स्वरूप से ही साध्य है, इसलिए इस क्षेत्र के चितन में लक्षण और शासन का सहभाव स्वाभाविक भी है। पाकशास्त्र और गंधशास्त्र, इन्द्रियों के भोक्तृत्व को विषय बनाते ये शास्त्र, अपने विषय का वर्णन-लक्षण भी करते हैं, सुस्वाद भोजन और सुगंध द्रव्य बनाने की विधि भी बताते हैं। हमारी आन्तर प्रवृत्तियाँसंकल्प, इच्छा, प्रयत्न...ये मनोविज्ञान के लक्षण और सिद्धान्त का विषय होकर मनोचिकित्सा के साधन भी होते हैं। ये प्रवृत्तियाँ मात्र अध्यात्म-शास्त्र का भी विषय हो सकती हैं, जैसा हम योगशास्त्रों में, भक्ति-ग्रन्थों में और अभिधम्म-परम्परा में पाते हैं।

यहाँ ज्ञान की दृष्टि से शासन या विधान पर एक आपत्ति की जा सकती है। कहा जा सकता है कि लक्षण और शासन दोनों को ज्ञान की कोटि में रखना ठीक नहीं। ज्ञान का काम विधान नहीं है, लक्षण ही हैजैसा कि विज्ञान करता है। विज्ञान के नाम पर आज मनुष्य-विषयक ज्ञान को भी शासन या विधान की प्रवृत्ति से अलग किया जाता है। पर एक तो शासन के लिए भी लक्षण आवश्यक होता है, दूसरे विशुद्ध लक्षण-ग्रन्थ भी शासन सम्बन्ध से रीते नहीं रखे जा सकते, उनका शासन के लिए महत्त्व स्पष्ट होता है : जैसा शरीर विज्ञान का शरीर चिकित्सा से, या मनोविज्ञान का

मनोचिकित्सा से, या समाज-विज्ञान का समाज-विधान सेयों भी मनुष्य में सिद्ध और साध्य का कोई आत्यन्तिक भेद करना कठिन है।

हमारे लिए यहाँ लक्षणीय यह है कि लक्षण हो या शासन, दोनों विषय-वृत्तिक होते हैं, अध्यवसाय प्रधान होते हैं। साहित्य और कलाओं से दोनों का भेद एक सा है। पुराने साहित्य चिन्तकों ने साहित्य को दोनों से समान भाव से अलग किया है।

स्पष्ट ही, साहित्य और दूसरी कलाओं का सम्बन्ध भी हमारे मनुष्य-भाव से हैहमारे भोक्तृत्व-भावयित्रित्व-कर्तृत्व से। पर साहित्य-कला'ये क्या हैं', 'इनका लक्षण क्या है', 'विधान क्या है', यह अध्यवसाय नहीं करते। साहित्य में हम मानो इन्हीं में होते हैंइनमें तन्मय होते हैं, इनसे अपने को तदात्म पाते हैं : दूसरे शब्दों में, इनके विषयी होते हैं। पर कैसे विषयी? स्पष्ट ही वैसे तो नहीं जैसे साधारण अनुभव, भाव, व्यवहार में। कला में चेतना इन अवस्थाओं-प्रवृत्तियों में रहती हुई भी, इनमें तन्मय होती हुई भी, इनसे एक तटस्थता रखती है, इनके प्रति एक द्रष्टा-भाव बनाए रखती हैवैसी ही दूरी जैसी ज्ञान में विषयी की विषय से होती है। यहाँ शल्य जी के शब्दों को लिया जा सकता है : हम विषयिता में रहते हुए ही यहाँ विषयिता का भावन करते हैं। यहाँ ज्ञान की बात नहीं की जा सकती, क्योंकि विषयी यहाँ *विषय* नहीं होता। पर सत्य की बात की जा सकती है, विषयी विषयिता में रहता हुआ भी उसका प्रेक्षक भी होता है। विषयिता के ही स्वरूप कासत्य का, अर्थ कासंधान होता है कला में, पर विषयिता की ही दृष्टि से, विषय की दृष्टि से नहीं।

यहाँ एक बात (मानो कोष्ठक में) कहते हुए आगे बढ़ाना चाहता हूँ। कला को विषयिता के अर्थ या सत्य का संधान कहा जाए तो उसे 'ज्ञान' न कहने का आधार यही तार्किक प्रत्यय बनता है कि ज्ञान का ज्ञेय से सम्बन्ध विषयी-विषय सम्बन्ध होता है, विषयी-विषयी सम्बन्ध नहीं। अन्यथा सत्य या अर्थ-संधान की दृष्टि से साहित्य और कला को भी ज्ञान कह दिया जाए, तो मार्मिक दोष नहीं होगा। **काव्य-विमर्श** के लेख 'काव्य-तत्त्व' में यह बात स्पष्ट व्यंजित भी है। इस लेख में बात ज्ञान की है। कवि को ज्ञाता के रूप में देखा गया है : ऐसा विलक्षण ज्ञाता जो मनुष्य की मनुष्यता के अर्थों को, उनके वस्तुत्व को, अनुभूति के भीतर से 'जानता' है। पर यह 'जानना' यहाँ 'होने' का भी पर्याय है : वस्तु को वस्तु होकर जानना। अभिप्राय में एक विस्तार है, भेद नहीं।

कोई भी जानना सामान्यता की अपेक्षा रखता है। सत्य सामान्य के रूप में ही प्रकट होता है, ज्ञान हो या कला। ज्ञान या कला ये तटस्थ दृष्टि की ही अपेक्षा नहीं रखते, ज्ञान के बोध-मात्र-साधारण (सर्व-साधारण) होने की भी अपेक्षा रखते हैं। तभी ज्ञान प्रत्ययों में होता है जो स्वरूप से सामान्य होते हैं। तो कला में भी प्रत्यय होने चाहिए। वहाँ प्रत्यय की बात की नहीं जातीपर शल्य जी जोर देकर इस बात को सामने रखते हैं। प्रत्यय को साधारणतः भाषा से ही जोड़ा जाता है। उसे भाषा से बाहर

नहीं देखा जाता। पर 'बोध की सामान्यता का धारण' अगर प्रत्यय का धर्म है तो यह कलाकृति में भी होता ही है। ऐसी कलाकृतियों में भी जहाँ शब्द माध्यम नहीं होता; या केवल शब्द माध्यम नहीं होता, जैसा कि नाट्य में। अभिनय बोध की साधारणता का धारण करता ही है।

नाट्य और साहित्य को कला-मीमांसा का आधार रखते हुए रसशास्त्रियों ने यहाँ 'साधारणीकरण' की बात की है। साधारणीकरण की धारणा में उतरने के लिए अभिनव का एक उदाहरण यहाँ उपादेय हो सकता है। भय को लीजिए। अभिनव पूछते हैं : नाट्य में प्रस्तुत भय किसका भय होता है? यह न नाट्य-लेखक का होता है, न अभिनेता का, न दर्शक का (दर्शक को वास्तव में भय हो तो उसका व्यवहार ही और होगा)। भय यहाँ साधारणीकृत होता है। तभी भय के रूप में नहीं, भयानक-रस के रूप में अनुभूत होता है। यहाँ कई प्रश्न उठ सकते हैं। एक जो पहले ही उठता है, यह कि फिर रसानुभूति अभिनेता और लेखक को क्यों नहीं होती? पर इस प्रश्न को जाने भी दें तो भी साधारणीकरण का यहाँ 'सामान्य हो जाना' या 'प्रत्यय हो जाना' जैसा अर्थ बनता नहीं लगता। धारणा में कलानुभूति को भाव की आम, दैनन्दिन या रोजमर्रा, 'लौकिक', अनुभूति से अलग दिखाने का आशय ही प्रधान है। तभी साधारणीकृत भय रस बन कर 'आस्वाद्य' हो जाता है। ऐसे भय के लिए लालायित हुआ जा सकता है। हम पाते भी हैं कि आज दर्शकों-पाठकों का भयानक रस के प्रति लोभ उद्दीप्त है। भय के गल्प, भय की फिल्में, ये बड़ी मात्रा में रचे जा रहे हैं। पर कला में किसी भी गहराई की, अर्थ की, सत्य की बात कहने वाले ऐसे ही आस्वाद के प्रति अपनी विमुखता भी दिखाते हैं आज। भय का बोध मनुष्य की चेतना में गहन, व्यापक और बहुमुखी है, मनुष्य के होने की जड़ में ही नहीं होने का आतंक समो देता है; भय के सत्य को अनुभव की ही आँख में जगा देने की चेष्टा आस्वाद की बात नहीं हो सकती। शल्य जी की दृष्टि में कवि अनुभव का प्रेक्षक होता है, आस्वाद का प्रेषक नहीं।

काव्य-विमर्श के बाद लिखे गए अपने एक लेख में शल्य जी अभिनव के ही शब्दों में साधारणीकरण का लक्षण सामने रखते हुए उसकी आलोचना करते हैं। उनकी बात अवधेय है; इसलिए भी कि इससे उनकी अपनी स्वतंत्र दृष्टि और युक्ति की दिशा स्पष्टतर होती है। जिस लेख की बात कर रहा हूँ उसका शीर्षक है 'काव्य विषयक सौन्दर्य और साधारणीकरण की अवधारणाओं की समीक्षा'।

अभिनव गुप्त नाट्य या साहित्य में भावों का दैनन्दिन या 'लौकिक' मेरे-तेरे उसके भाव के रूप में ग्राह्य न हो कर 'निर्विघ्न-प्रतीति'-ग्राह्य हो जाने को साधारणीकरण कहते हैं; यही बात भाव की रोजमर्रा, हमें-आक्रान्त-करती, व्यग्र-व्यस्त करती, 'व्यावहारिक' अनुभूति को रसानुभूति में बदल देती है। जैसा कि शल्य जी ने उद्धृत किया है, अभिनव कहते हैं 'भावों का लौकिक तादात्म्य से विच्छिन्न : मेरे, तेरे या उसके भावों

के रूप में ग्राह्य नहीं होकर : निर्विघ्न प्रतीति ग्राह्य होना (यही साधारणीकरण) है, इसी से भय भयानक रस हो जाता है *तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं, शत्रुर्वयस्योमध्यस्थो वा इत्यादि दुःखसुखादिकृत बुद्धयन्तरोदय नियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो निर्विघ्न प्रतीति ग्राह्यं ... भयानको रसः*। पर शल्य जी पूछते हैं भावों का लौकिक तादात्म्य क्या होता है? लोकजीवन या लोक-व्यवहार में भावों का होना, यही आशय हो सकता है। पर लोक-व्यवहार में हमारा भाव-बोध कैसा होता है? वह क्या साधारणीकृत नहीं होता? मैं कहता हूँ 'मैं दुःखी हूँ' या 'अमुक दुःखी है'। ये कथन ही दिखाते हैं कि हम भाव में सर्वथा भावमय (भाव से तदात्म) नहीं होते, भाव को देखते भी हैं, उसे शब्दों में कहते हैं। शब्द का वाच्य भाव नहीं होता, भाव का प्रत्यय होता है। ऐसे प्रत्ययों के बिना मनुष्य का व्यवहार संभव नहीं। यों लौकिक व्यवहार में भी हम प्रत्ययों के माध्यम से भावों से विच्छिन्न (अतदात्म) होकर ही उनका धारण करते हैं। हमारा लौकिक व्यवहार आत्मचेतन व्यवहार होता है और आत्मचेतना का आत्म अपना ही प्रेक्षक भी होता है, अपनी चिद्रवृत्तियों को प्रत्ययों के माध्यम से देखता है। उनका साधारणीकरण करता चलता है। इसके बिना उसका देखना ही नहीं बनता।

साहित्य में (और कला में) अन्तर यह है कि आत्मचेतना का अपने को देखना यहाँ अपने को विषय बना कर देखना नहीं होता-चेतना का विषयिता में रहते हुए ही अपने को (अपनी विषयिता) को देखना होता है। प्रत्यय यहाँ भी होते हैं-हमारा देखना प्रत्ययों में ही होता है-पर ये विषय-प्रत्ययों से भिन्न होते हैं। ये अनुभूति को अनुभूत रखते हुए अवलोक्य बनाते हैं। तभी यहाँ व्यंजना की बात होती है, अभिधा की नहीं। अभिधा होती ही विषय-दृष्टि से देखी गई, कही गई बात है, जब कि व्यंजना को संवेदना की दृष्टि से देखना-कहना कह सकते हैं, और संवेदना ही विषयिता में रहते हुए विषयिता का भावन। पर यों देखें तो यह भी दिखता है कि अभिधा और व्यंजना दोनों का लक्ष्य सत्य होता है।

शल्य जी की यह दृष्टि उनकी अपनी है, अभिनव है। इसे किसी गहराई से और किसी व्यापकतर पटल पर देखने के लिए शल्य जी के आत्मचेतना सम्बन्धी चिन्तन में कुछ उतरना होगा। शल्य जी कहते हैं कि सत्य की बात उठती ही आत्मचेतना के साथ है, क्योंकि चेतना अब अपने से तटस्थ होकर अपने को विषय बना पाती है। तभी ज्ञान की बात उठती है। तटस्थता के बिना ज्ञान नहीं होता। शल्य जी अपने लेखन में इस बात पर जोर देते रहे हैं कि आत्मचेतना मनुष्य का विशेष और अपूर्व गुणधर्म है-पशु में आत्मचेतना नहीं होती-सम्भावना रूप ही होती है-तभी वहाँ सत्य की या सत्य के संधान की और यों ज्ञान की बात अर्थ नहीं रखती। पर मनुष्य में आत्मचेतना के साथ चेतना अपने से हट कर अपनी ही ओर देखती है-प्रत्यङ्मुख होती है। 'मैं हूँ' कह सकती है आत्मचेतना। पर इस चेतना में यह भी प्रकट उभरता है कि आत्म की प्रत्यङ्मुखता एक अन्तरिक्ष उबारती है। सोपानवत् होती है प्रत्यङ्मुखता,

जिस सोपान का कोई अन्त नहीं होताचेतना अपने ही पीछे, और पीछे, हटती, अपने को देखती चली जा सकती है। 'मैं हूँ' कहने में निहित है कि 'मैं जानता हूँ कि मैं हूँ' (या 'मैं देख रहा हूँ कि मैं हूँ')। इसके आगे की सीढ़ियाँ (या और प्रत्यङ्मुख होना) स्वतः स्पष्ट है 'मैं जानता हूँ कि मैं जानता हूँ...कि मैं हूँ'। चेतना का यों अपने ही से प्रत्यक् हो पाना ही हमारे सभी देखने कीया ज्ञान कीतटस्थ दृष्टि का बीज है। विषय-उन्मुख-वृत्ति चेतना में सहज है, पशु में भी होती है। आत्मचेतना अपनी विषय वृत्ति को वृत्ति से अलग होकर 'देख' पाती है। तभी विषय क्या है? यह प्रश्न उठता है; 'हे भी क्या?' यह सत्य का और ज्ञान के प्रमाण का प्रश्न भी तभी सम्भव होता है।

आत्मचेतना के द्रष्टा-भाव में एक सामान्यता होती है। वह भाषा के माध्यम से प्रत्ययों में अपने विषय का ग्रहण करता है : तभी 'मैं' के रूप में मेरा अपना ग्रहण मुझे ही एक सर्वनाम बना देता है। मैं यह जानते हुए 'मैं हूँ' कहता हूँ कि आप भी अपने आप को 'मैं' ही कहते हैंसभी मनुष्य अपने आप को 'मैं' कह सकते हैं। मैं आपकी (या किसी की भी) कहानी लिखने बैठूँ तो कहानी का पात्र अपने को 'मैं' ही कहेगा। यों 'मैं' सामान्य है। तभी उसे कहा जा सकता है, वह ज्ञान का विषय बन सकता है। ज्ञान 'ज्ञान' होता तभी है जब सामान्य हो, अन्यथा ज्ञान की बात ही नहीं होगी, एक अन्धेरा ही होगा। 'मेरा दुख', 'मेरा दर्द' को लीजिए। यहाँ दुख या दर्द विषय होते हैं तभी अवलोक्य होते हैं, तभी सामान्य प्रत्यय भी होते हैं; मेरे लिए भी और अन्य के लिए भी। 'दुख का अर्थ क्या?' या उसका 'सत्य' क्या? ऐसे प्रश्न का भी विषय बन जाता है अब दुख। तात्पर्य यह नहीं कि पशु को पीड़ा नहीं होती, पर उसके लिए पीड़ा का न कोई नाम है न अर्थ। पीड़ा उसके लिए प्रश्न नहीं, एक अव्यक्त, अनहोनी, अव्याकृत सी स्थिति है। यहाँ हम यह भी देख सकते हैं कि चेतना का तटस्थ भाव उसका स्वातन्त्र्य भी है। हमारी प्रश्न वृत्ति का सम्बन्ध स्पष्ट ही चेतना की उस भूमि से है जहाँ चेतना सामान्य होकर अहं के विशेष से मुक्त होती है। तभी अपनी स्वायत्त सामान्यता में ज्ञान-चेतना का रूप ले पाती है; पर तब वह अपने विषय के अर्थ का, सत्य का अन्वेषण करती है। यह चेतना का अपना व्यापार है; ज्ञान, विज्ञान, विचार, दर्शन, अध्यात्म...चेतना इनके अर्थ-लोकों का सृजन करती है, जिनमें संधान सत्य के साक्षात्कार का होता है। यह चेतना का स्वतन्त्र व्यापार है। शल्य जी की दृष्टि में यहाँ चेतना का अपना तत्त्व प्रकट हो आता है। चेतना को यहाँ हम अपने ही स्वरूप का साक्षात्कार और सृजन करते देखते हैं। ऊपर मैंने कहा था कि शल्य जी अद्वैती हैं। पर उनका आत्माद्वैत पुराने अद्वैत से अलग है। आत्मचेतना के सृजन-व्यापार को प्रतीक बनाते हुए वे आत्मा को एक निरन्तर आत्म साक्षात्कार और आत्म सृजन की प्रक्रिया के रूप में देखते हैं जहाँ आत्मा का आत्म साक्षात्कार और सृजन एक ही गति के दो पक्ष हैं। आत्मा अपने से ही हटकरऔर यों अपने से व्यवहित

होकरअपने को पाना चाहता है तो सृष्टि-व्यापार रूप लेता है। आत्मा शल्य जी के लिए कोई नित्य ध्रुव वस्तु नहीं है, एक अंतहीन व्यापार है, स्वातन्त्र्य का व्यापार, सृजन-प्रवृत्त। यों आत्मा अवस्तु है, पर उसका होना मनुष्य की आत्मचेतना के प्रत्यङ्मुख व्यापार में प्रतिफलित देखा जा सकता है। आत्मचेतना पर मनन के द्वार से ही शल्य जी अपने तत्त्व-चिन्तन पर पहुँचते हैं।

विज्ञान, दर्शन...की तरह साहित्य या कला भी अर्थ-लोक का सृजन करते हैंसृजन यहाँ भी साक्षात्कार ही है। साहित्य-कला के सृजन में यह देखना भी अपेक्षया स्फुट है कि साक्षात्कार और सृजन युगपत् होते हैंऔर उस एक ही व्यापार में कृति का रूप लेते हैं, जो कि अर्थ का वहन करती है : अर्थ की व्यंजक होती है। तभी यहाँ अर्थ-ग्रहण को भी साक्षात्कार के रूप में देखा जा सकता है व्यंजना का ग्रहण भी साक्षात्कार कीप्रतिभा कीअपेक्षा रखता है। अर्थ का ग्रहण अर्थ के सृजन की तरह ही सम्भावनामय होता है। तभी वहाँ प्रतिभा की बात सार्थक है। सहृदय की भी प्रतिभा होती है जो अर्थ की सम्भावनाओं का सृजन करती है। कृति अर्थ का वहन करती हुई अर्थ की सम्भावनाओं का भी वहन करती हैअपनी अभिव्यक्ति में भी और ग्रहण में भीनई कृतियों की सम्भावना के रूप में भी। सम्भावना अव्यक्त, अरूप होती है, उसका साक्षात्कार उसका सृजन होता है।

कृति को कृति की सामान्यता में और अर्थ-वाहकता में देखें तो उसे प्रत्यय के रूप में देखने का औचित्य भी उभरता है। पर जिज्ञासा हो सकती हैकला-कृतिजैसे संगीत, चित्र, नृत्य, वास्तु की कृतियाँअगर प्रत्यय हैं तो प्रत्यय की समझ यहाँ भिन्न है। शल्य जी प्रत्यय की धारणा को एक अलग व्यापकता देते हुए लेते हैं। प्रत्यय उनके लिए चेतना का अर्थ-रूप उन्मेष है। उसका शब्द में होना अनिवार्य नहीं, जैसा अक्सर समझा जाता है। न यह आवश्यक है कि वह आंतर (बुद्धिगत) ही हो, उसका बाह्य (इन्द्रियगम्य) रूप सम्भव न हो। कलाकृतियों में यह बात स्फुट है। अगर हम यों देखने को तैयार हों तो (आंतर-बाह्य के) द्वैत दर्शन से हट कर चित् और सत् को संपुटित रखते हुए तत्त्व-चिन्तन की उस संधान-यात्रा पर निकल सकते हैं जिसके शल्य जी यात्री हैं। पर इस बात पर आगे फिर आऊँगा।

अर्थ को सत्य से जोड़ने में एक गहरी दुविधा यह होती है कि सत्य का प्रतिमान हम 'ठोस', इन्द्रिय-गम्य विषय को रखना चाहते हैं। ऐसा विषय ही हमारे लिए 'वस्तु' होता है। और वह बस *होता* है। उसका अपना कोई अर्थ नहीं होता। हमारा प्रयोजन, हमारी उपादेयताएँ उसको अर्थ देती हैंवह 'सत्' मात्र होता है; चित् (या चेतना) से परे। चेतना उसके सत् को यथातथ जान ले, तो यह ज्ञान सत्य होता है, अन्यथा भ्रान्त, मिथ्या या अलीक। 'तथ्य' और 'मूल्य' का भेद ऐसी ही चित् और सत् में आत्यन्तिक भेद करती दृष्टि को आधार बनाता है। इस दृष्टि में ज्ञान और कल्पना में भी आत्यन्तिक भेद है। कल्पना का सत्य से सम्बन्ध शत्रुत्व का है, कल्पना को हटा

कर ही ज्ञान में सत्य प्रकाशित होता है। अर्थ का सम्बन्ध इस दृष्टि में कल्पना से होता है; इसलिए 'तथ्य' अगर सत्य है तो 'मूल्य' कल्पनाचाहे बात कला की हो या कर्म की या दर्शन या अध्यात्म...की।

पर ज्ञान को कल्पना से दूर करने का क्या अर्थ? कल्पना के बिना कोई संधान नहीं होता। विज्ञान जो सत्य का प्रहरी और एकाधिकारी माना जाता है, वह भी कल्पना के बिना सम्भव नहीं। कल्पना विचार-विमर्श मात्र की नित्य-सहचरी है। यों ज्ञान की भी सहचरी है। पर इस बात को मानते हुए भी कुछ ऐसी आपत्ति की जाती है : हाँ, विज्ञान कल्पना को काम में लेता हैकल्पना सम्भावनाएँ खोलती है, सत्य के सम्भव रूप आगे लाती हैपर विज्ञान की प्रमाण-पद्धति सम्भावनाओं के अनेक को एक में कस देती है, दृढ़ नियत कर देती है; तभी हम वहाँ सत्य को 'तथ्य' के रूप में देख सकते हैं; सत्य का अभ्रान्त सत्यरूपेण कल्पन-शून्य ज्ञान पा सकते हैं।

आज विज्ञान की सब सम्भावनाओं को एक-में-अपचित कर देने की ज्ञान-शक्ति पर संशय बढ़ रहा है। विज्ञानों का परम प्रमाण भौतिक विज्ञान अब सम्भावना-जीवी ही लगता है। पर सत्य का यह आदर्श कि वह सम्भावना-जीवी हो जाए, यह बोध को अखरता है। इसलिए हम अर्थ को कल्पना से जोड़ते हुए उसे सत्य से नितान्त अन्य कोटि में रखना चाहते हैं

पर एक तो यह सोचिए कि अगर सत्य-संधान के लिए कल्पना अनिवार्य है और कल्पना स्वभाव से सम्भावनामयी है तो सत्य भी स्वभाव से सम्भावनामय क्यों नहीं हो सकता? सत्य को भ्रान्ति या मिथ्या से हटाया जाता है, इसी के लिए प्रमाण काम में लिए जाते हैं, पर क्या जरूरी है कि सत्य को भी सम्भावना के अनेक से हटाया जाए? इसके पीछे यही आग्रह हो सकता है कि सत्य सामने रखी मेज या कलम जैसा कोई 'तथ्य' हैटोस, निःसंशय सत्य, अन्य-संभावना-विहीन, जिससे कोई घोर पागल ही इनकार कर सकता है।

पर सत्य का यह ठोस आदर्श विज्ञान को भी स्वीकृत नहींविज्ञान मेज, कलम में भौतिकता देखता है और *भौतिकता* के सत्य की बात करता है। भौतिक क्या है? भौतिकता क्या है? यह प्रश्न विज्ञान के लिए सदा सम्भावना का ही प्रश्न बना रहता है, और, कहना न होगा, सम्भावना एक नहीं होती। अगर मैं पूछूँ कि प्रेम क्या है? तो क्या यह सत्य का प्रश्न नहीं है? उत्तर होगा प्रेम एक मूल्य है, तथ्य नहीं, इसलिए उसके विषय में सत्य का प्रश्न अप्रश्न है। पर इस कोटि-भेद का आग्रह मैं क्यों रखूँ? हम प्रेम में सत्य की बात करते ही हैं और सार्थक भाव से करते हैंसच्चे और झूठे प्रेम में, गहरे और उथले प्रेम में, अन्तर करते हैं। यहाँ बात सत्य की क्यों नहीं? हम यह भी पाते हैं कि प्रेम का सच्चापन अपनी तरह की प्रामाणिकता भी चाहता हैक्योंकि वह भ्रांत-मिथ्या भी हो सकता है। पर सच्चा प्रेम एक नहीं अनेक रूप लेता है; उसकी अनेकरूपता उसको झूठा नहीं कर देती। समृद्ध करती है। अगर सत्य का

प्रतिमान हम मेज, कुर्सी को नहीं रखें तो अनायास देख सकते हैं कि प्रेम अर्थ भी है, सत्य भी। उसे अर्थ तो हम मानने को तैयार होते हैं पर सत्य मानने को नहीं, क्योंकि वह इन्द्रियगम्य *तथ्य* नहीं। पर सत्य पर यह बन्धन क्यों? अगर प्रामाणिकता भ्रांति और मिथ्या को हटाने की चेष्टा है और प्रामाणिकता सत्य का लक्षण है तो प्रेम अलीक कल्पना नहीं सत्य की कोटि में आता है। ऐसा सत्य जो हम अर्थ के रूप में साधते हैं। जो सम्भावनामय हैकई रूप ही नहीं लेता, चेतना के भिन्न स्तरों पर रूप लेता है : भक्ति में उसकी भूमि और हो जा सकती है। कला मेंविशेषकर साहित्य मेंये रूप कृति बनकर सामने आते हैं। कवि (उपन्यासकार, कथाकार.. .) की कल्पना में प्रेम की सम्भावनामयता एक अलग विस्तार पाती है। कवि कथाकार के लिए प्रेम का सत्य-संधान प्रेमी जैसा नहीं होता; वह प्रेम साधता नहीं, पर फिर भी प्रेम का साक्षात्कार करता है। प्रेम का साधक भी हो सकता है वह, पर कवि के रूप में प्रेम के रूपों को देखना, उसकी सम्भावनाओं को भाँपना-आँकना, उसके सत्य-मिथ्या को पहचानना, यह उसका साध्य होता है। वह मनुष्य-भाव में प्रेम को अनुभूति के भीतर से देखता है, उसे (कला के) प्रत्ययों में रूप देता है : ये प्रत्यय चित्र हो सकते हैं, जैसे कांगड़ा कलम के मार्मिक राधा और कृष्ण के चित्र, ये कविता के रूप ले सकते हैं, जैसे मीरा के पद। पर प्रेम का अर्थ व्यापक है, मनुष्य-भाव में उसका होना भी भिन्नार्थक, जटिल, बहुमुखी है : बड़ी अलग प्रतिमाएँ उभरती हैं प्रेम की। शल्य जी अज्ञेय की पंक्तियाँ उद्धृत करते हैं *क्रौंच बैठा हो कभी वल्मीक पर/तो मत समझ/ वह अनुष्टुप बाँचता है सिंगी के स्मरण के/ जान ले, वह दीमकों की टोह में है। कविजनोचित न हो चाहे, वही सच्चा साक्ष्य है/ एक दिन तू सोहनी से पूछ लेना।* (काव्य विमर्श, पृ. 19, 'काव्य सर्जन')। यहाँ प्रेम का निषेध व्यक्त है; इस गहरी खिन्नता के साथ कि प्रेम होता नहीं, एक कहानी है, मिथक है। सोहनी को इस बात का 'साक्षी' बनाने की बात में गहरा व्यंग्य है, पर यह व्यंजना भी कि प्रेमी के प्रेम को ठुकराया गया है; उसके लिए प्रेम एक धोखा बन कर सामने आया है। हमारे भावलोक में यह भी प्रेम का अर्थ है ही। शल्य जी अज्ञेय की इन पंक्तियों में वैचारिकता देखते हैं, यह दिखाने के लिए कि वैचारिकता भी भावन का अंग हो सकती हैकिसी विषय पर विचार हम विषयिता से अलग होकर ही कर सकते हैं, पर विचार करना तो विषयिता में ही घर करता है। इस रूप में विचार कविता का अंग होता है, जैसा अज्ञेय की कविता में है, जहाँ कथन की गति साफ ही विचार का रूप लेती दिखती है। उपन्यास में प्रेम हमारी अनुभूति के भाव और विचार में ही नहीं, कर्म में भी रूप लेता है। (रस-विचार की एक बड़ी कमी यह भी है कि वहाँ काव्य में विचार और कर्म के लिए स्थान नहीं)। महान उपन्यासकार प्रेम के गुत्थिल, अद्भुत पर बुद्धि-को-मूक-कर-देते प्रसार को हमारे मनुष्य-भाव की सार्थक प्रतिमा के रूप में आंकता है, जैसे डोस्टोवस्की ने **ब्रदर्स कारमाजोव** में किया है।

काव्य-विमर्श के लेख 'काव्य तत्त्व 1' में शल्य जी कहते हैं कि मनुष्य-भाव के सत्य में, उसके हृदय में, उसकी गहरी-उथली, ऊँची-नीची अनुभूतियों में कवि की ही सहृदयता का प्रवेश है, अन्यथा ज्ञान और अध्यात्म तो इनसे ऊपर उठकर ही सत्य की बात करते हैं : 'उपनिषद् और बुद्ध राग-द्वेष और मानापमान से ऊपर उठने में ही जीवन की सिद्धि देखते हैं, किन्तु काव्य और कलाएँ इन्हीं के अन्तःस्तल में प्रवेश कर अर्थों के अपार पारावार का साक्षात्कार करती हैं।...ऋजु मार्ग को छोड़ कर बीहड़ अरण्य में विचरने का जोखिम उठाना यही कवि, कलाकार का भाग्य है। वेश्याओं और वारवनिताओं, चोरों और बटमारों, वीरों और कायरों, रामों और रावणों सब की अंतःकथा को उनके घट में पैठ कर जानना : उनका आत्मकथाकार होना : सबके सुख-दुख, जय-पराजय में साँझा होना, यह कवि-कलाकार का धर्म है...।' और इससे भी आगे बढ़कर 'होने' मात्र को भीतर से जानना-कहना यह कवि के ही बोध का स्पंद है 'जीव मात्र और जड़ मात्र के भी अन्तर्मन में पैठकर उनके हृत्स्पंदन में परिस्पंदित होना और साथ ही उससे उबर कर उसके सत्य का साक्षात्कार करना, कलाकार की कला इसी में अपनी चरितार्थता पाती है।' (पृ. 30-31)

ऐसी बातों को मानकर भी और कलाकार के कर्म को सृजन-कर्म कहते हुए भी उसे कल्पना की ही कोटि में रखा जाता है, कला के उद्देश्य को सत्य से अलग ही रखना उचित माना जाता है। हम चर्चा कर चुके हैं कि कल्पना को सत्य के संधान से असम्पृक्त नहीं रखा जा सकता। यों कवि-कर्म को कल्पना कह देना उसे सत्य से विविक्त नहीं कर देता। पर कल्पना को कुछ और भी चाहिए जो सत्य की पकड़ दे। शल्य जी यहीं साक्षात्कार की बात करते हैं (जो ऊपर के उद्धरण में भी है)। हम देख चुके हैं कि वे साक्षात्कार और सृजन को एक ही वृत्ति के दो पक्ष मानते हैं। यह भी कि यह बात उनके तत्त्व-दर्शन में ही निहित है। सृष्टि-तत्त्व ही उनके लिए चित्-सत् के आत्म-साक्षात्कार और आत्म-सृजन का युगपत् व्यापार है। इसी का बिम्ब या प्रतीक हम आत्मचेतना में पाते हैं। आत्मचेतना में आत्म का अपना ही विषय हो पाना : आत्म की प्रत्यङ्मुखता का अगाध विस्तार : और आत्म के इस द्वैध के बीच खुलता अर्थ-लोकों का वैभव, यह शल्य जी के लिए आत्म के परमार्थ तत्त्व का इंगित, उसका प्रतीक बनता है। कुछ ऐसा ही इंगित उपनिषद् के ऋषि ने भी पाया था जब उसने कहा *आत्मा वा इदमेक अग्र आसीत्, नान्यत् किंचन मिषत्। स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति।* (शल्य जी **मूल्य-तत्त्वमीमांसा** के दूसरे अध्याय 'सृजन और सत्य : मूल्य की तत्त्वमीमांसा' में इन पंक्तियों को आरम्भ में ही उद्धृत करते हैं, और अपने विचार में इनको साथ रखते हैं)। उपनिषद् की पंक्तियों में प्रकट है कि आत्मा का देखना उसका अपने ही को देखना है और कुछ तो था ही नहीं। इस आत्म-ईक्षण के साथ ही लोक-सिसृक्षा का भी उदय होता है। *स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति।* आत्म साक्षात्कार ही यहाँ आत्म-सृजन और जगत्-सृजन का बीज है। उपनिषद् में बात को

एक विगत की घटना के रूप में कहा गया है, पर घटना तात्त्विक है, काल के परे है, काल तो लोक या जगत् के सृजन के साथ ही सृष्ट हो सकता है। शल्य जी के लिए भी सृजन का तत्त्व काल के परे है, नहीं तो काल सृजन से पूर्व हो जाएगा उसका सृजन कैसे हुआ? यह प्रश्न खटकेगा। और इसलिए आत्म भी स्व-सृष्ट ही हो सकता है (जैसा कि उपनिषद् में अन्यत्र और स्पष्ट कहा गया है)। लोक-सृजन यहाँ आत्म-सृजन का ही अंग है। यों आत्म चित् होने के साथ ही सत् भी है। यह आत्म-सृजन आत्म-साक्षात्कार का समवर्ती है, दोनों एक ही व्यापार से उद्भिन्न होते हैं। आत्मचेतना में हम इस व्यापार की छाया, उसका प्रतिफलन, देख सकते हैं। कला में और कर्म में यह और भी प्रकट है। पर इस व्यापार को दृष्टि-सृष्टि वाद से नहीं मिला देना चाहिए। दोनों में आधारगत भेद है। दृष्टि-सृष्टि व्यापार के लिए जगत् सत् नहीं है, (मिथ्या) कल्पना है। दृष्टि-सृष्टि वाद कहता है कि वस्तु का होना उसके देखने से उसकी प्रज्ञप्ति से, उसके बोध में भासित होने से अलग अपने आप में कुछ नहीं है : अर्थात् (मिथ्या) कल्पना ही है। मैं मेज को देख रहा हूँ तो मेज एक प्रज्ञप्ति है, उससे बाहर मेज कुछ नहीं। दृष्ट मेज का सभी देखने वालों को दिखना, उसका सर्वबोध गत होना, उसका जगत्-वासनागत होना कहा जा सकता है, जो वासना चित्त मात्र में होती है, सर्व-गत ग्राह्य-ग्राहक भाव में रूप लेती है। वसुबन्धु ऐसा ही कहते हैं। बर्कले मेज की प्रज्ञप्ति के सर्वगत होने का कारण ईश्वर की प्रज्ञप्ति में देखते हैं, जो सब मेज प्रज्ञप्तियों में प्रकाशित होती है। पर यहाँ भी जगत् प्रज्ञप्ति ही है, यों मिथ्या कल्पना है, अपने आप में सत्य नहीं, चाहे प्रज्ञप्ति का आधार लोकोत्तर हो। बौद्धों की वासना भी लोकोत्तर ही है।

इसके विपरीत शल्य जी के आत्म-साक्षात्कार और सृजन के सिद्धान्त में वस्तु सत् होती है, अगर वह चित् का अर्थमय आत्मप्रकाश है। अर्थ चित्-सत् है जो आत्म के स्वसाक्षात्कार के साथ विसृष्ट होता है, और यह निरन्तर व्यापार है। तभी सृजन अपूर्ण होता है, काल की दृष्टि से ही नहीं, स्वरूप से अपूर्ण होता है। 'अपूर्व' शब्द काल को पूर्व-कल्पित करता है, पर अपूर्वता का तत्त्व काल से परे है (तत्त्व की दृष्टि से 'अपूर्वता' का प्रयोग लाक्षणिक ही हो सकता है, तत्त्व के स्वरूप को विचार में ग्रहण करती एक व्यंजना)। हमारी कृतियों में अपूर्वता रूप लेती है तो काल में रूप लेती है, और तब अपूर्वता काल की द्योतक भी होती है। पर यहाँ यह भी लक्षणीय है कि अपूर्वता को (सृजन को ही) हम कार्य-कारण भाव से उन्मुक्त मानते हैं अपूर्व पहले हो चुके से नियत-नियन्त्रित नहीं होता : 'कार्य' या 'परिणाम' नहीं होता, तभी अपूर्व होता है और सृजन होता है; जहाँ तक वह कार्य या परिणाम हो, 'सृजन' नहीं होगा।

कला-सृजन में एक अपूर्वता की अपेक्षा ही नहीं होती, उसका अनुभव भी होता है। तभी हम वहाँ सृजन की बात करते हैं। साथ ही अपूर्वता में एक खरेपन की भी मांग होती एक प्रामाणिकता चाहते हैं हम वहाँ, केवल एक नयेपन का थोथा

चमत्कार नहीं, या चले-आते की उपाय-कुशल हेराफेरी नहीं। पर अगर अपूर्व प्रामाणिक सृजन हो, तो उसे 'सत्य' कहने में द्विधा क्या? : चेतना ने प्रतिभा की आँख से कुछ अपूर्व देखा, जिसे उस देखने में ही रूप दिया। यही अपूर्व कृति का बीज है। कलाकार का अनुभव कहता ही है कि प्रतिभा जितनी निर्मल, उज्ज्वल होती है, कृति-प्रतिभा भी उतनी ही सहज-अनायास सृष्ट होती है। प्रतिभा तो साक्षात्कार का दूसरा नाम है ही।

साक्षात्कार और सृजन के इस सत्य को हम कर्म में भी देख सकते हैं जैसे गाँधी जी की कर्म-प्रतिभा में : उन्होंने अहिंसा में कर्म के सत्य का साक्षात्कार करते हुए उसे अपने महत् कृतित्व में प्रतिभा रूप दिया। कर्म की एक अपूर्व सम्भावना को अपनी करनी में सार्थक किया।

पर हम इस बात को ध्यान में रखते हुए इससे भी गहरे उतर सकते हैं हम मनुष्य की कर्म-सम्भावना में ही सृजन के तत्त्व का साक्षात्कार कर सकते हैं। मनुष्य में आत्मचेतना के साथ औचित्य-बोध जन्म लेता है, जो जिजीविषा की जीव-प्रवृत्ति को ही क्रिया मात्र से कर्म बना देता है। तभी मनुष्य हिंसा में असत्य देख पाता है। यह सृजन ही है; यह प्रकृति के कार्य-कारण में या चले-आते, नियत परिणाम-प्रवाह में नहीं समाता। चेतना के भीतर से उभरते आत्म-सृजन का स्फोट है यह। यों जीव-प्रकृति में हम चेतना का जो क्रम-विकास देख सकते हैं, उसे सृष्टि की सृजन प्रक्रिया का काल में उभरता रूप कह सकते हैं शल्य जी ऐसा ही कहते प्रतीत होते हैं।

पर साहित्य को ऐसे सृजन से कैसे जोड़ा जा सकता है? साहित्य का सत्य तो घटित का ही पुनर्घटन होता है। हमारे जीवन का ही बिम्ब बनाता है साहित्य, तभी सत्य की कोटि में उतरता है। साहित्य में सत्य की कुछ ऐसी ही स्वीकृति प्रचलित है। यहाँ **काव्य-विमर्श** से एक उक्ति लेता हूँ जो चौंका सकती है "प्रेमचन्द ने तत्कालीन ग्राम-जीवन की जिस दुख-दशा का साक्षात्कार किया था उसका स्वयं में अपना कोई रूप नहीं था। प्रेमचन्द उस साक्षात्कार को उपन्यास के रूप में अभिव्यक्त करने में प्रवृत्त हुए और उस अभिव्यक्ति ने **गोदान** उपन्यास का रूप लिया, यह उस साक्षात्कार के लिए आगन्तुक बात थी।" ('काव्य सर्जन', पृ. 20) उक्ति एकदम से अग्राह्य लग सकती है (हालाँकि शल्य जी के चिन्तन से समजस है)। हम यों समझने के आदी हैं कि प्रेमचंद या दूसरे सत्यदर्शी कवि-कथाकार प्रस्तुत यथार्थ को ही देखते-आँकते हैं। पर यह भी सोचिए : किसी परिस्थिति का 'अपना रूप' जो उसके किसी भी साक्षात्कार से विहीन हो, वह क्या होगा? 'परिस्थिति', 'उसका रूप' ये प्रत्यय हैं जो ज्ञातृत्व के हैं, उससे स्वतंत्र 'बाहर किसी कुछ' के नहीं। ज्ञातृत्व से स्वतंत्र, बाहर कुछ हो भी तो वह अव्याकृत, अभिन्न-अखण्ड, रूप-विहीन कुछ होगा। उसका सत्य, उस साक्षात्कार में ही होगा जो अव्यक्त को व्यक्त करेगा, परिस्थिति को परिस्थिति-रूपेण उसका साक्षात्कार ही रूप दे सकता है। उसका सत्य उसके साक्षात्कार में ही होगा, सत्य की

प्रामाणिकता भी साक्षात्कारी चेतना ही ढूँढ़ेगी। मनुष्य-भाव की परिस्थितियों में तो यह बात और भी सत्य है : स्त्री के प्रति समता-बोध के सत्य को ही लीजिए। यह परिस्थिति के साक्षात्कार का ही फल है यह साक्षात्कार पहले था ही नहीं या धुँधला था। प्रेमचन्द का साक्षात्कार भी कुछ ऐसा था चेतना में मनुष्य-भाव के एक सत्य का उदय था जिसे उन्होंने संवेदना की आँख से देखा-आँका। शल्य जी की दृष्टि में उनका देख पाना साक्षात्कार ही प्रधान है, उसका **गोदान** में रूप लेना नहीं। साक्षात्कार के दूसरे भी रूप लेने की सम्भावना थी। हम सोच ही सकते हैं कि किसी दूसरे चित्त में वह साक्षात्कार अभिव्यक्ति की दूसरी सम्भावना, दूसरे रूप जगाता। पर 'सम्भावना' को यहाँ समाविष्ट करने का अर्थ यह भी है कि साक्षात्कार का स्वरूप ही प्रेमचंद के साक्षात्कार से कुछ और होता और बिल्कुल भिन्न अभिव्यक्ति लेता जो अपने आप में सत्य होती। मनुष्य-भाव का साक्षात्कार तो प्रकट ही बहुविध, बहुवर्ण होता है, और इससे साक्षात्कार-भेद मिथ्या नहीं हो जाते। पर प्रकृति को ही लें जो अभिन्न मानी जाती है। कवि अगर प्रकृति में ऐसे स्फुरण का साक्षात् करता है जो विज्ञान-सम्मत नहीं, तो इससे वह असत्य नहीं हो जाता। प्रकट यही होता है कि जिसे हम प्रकृति कहते हैं, उसके 'सत्य' की सम्भावना सीमित नहीं है, पर, हाँ, वह साक्षात्कार की मांग करती है। यहाँ एक और उदाहरण लीजिए जो बात को आगे बढ़ाने में भी काम आएगा। संगीत में राग और उसकी अभिव्यक्ति को लीजिए। *वही* राग स्वभाव-स्वरूप से ही साक्षात्कार की अनेक सम्भावनाओं को धारण करता है। उसके अनेक्य में उसके सत्य की स्वरूप कीहानि नहीं, समृद्धि ही होती है हम गायक-वादक की प्रतिभा को (उसके साक्षात्कार को) 'प्रामाणिक' ही तब मानते हैं जब वह राग में नई स्वरूप-सम्भावना देख सके।

शल्य जी के चिन्तन-सूत्रों में बात को रखें तो राग को प्रत्यय कह सकते हैं। राग का साक्षात्कार और उसकी स्वर में अभिव्यक्ति, ये दो भिन्न अन्तः-बाह्य व्यापार नहीं हैं, चेतना के एक ही अर्थोन्मेष के दो पक्ष हैं। यहाँ हम यह भी देख सकते हैं कि राग-प्रत्यय एक ही राग के भिन्न साक्षात्कारों तक सीमित नहीं, अनेक रागों की सम्भावना पर व्याप्त है। राग के दो लक्षण उभरते दिखते हैं, यहाँ : उसकी सामान्यता (राग मेरा, आपका, या उसका नहीं होता, साधारणीकृत होता है) दूसरे, उसकी अर्थमयता (सत्यमयता) जो सम्भावनाओं का असीम संसार लिए होती है। यही प्रत्यय के लक्षण हैं। राग के उदाहरण में यह भी उभर आता है कि प्रत्यय का शब्द में होना आवश्यक नहीं। रागत्वयह शब्द-विकल्प राग-प्रत्यय के लिए एक नाम है। राग-प्रत्यय स्वर में ही रूप लेता है। ऐसी ही बात 'घट' के साथ भी है (जिसका दृष्टान्त शल्य जी अक्सर लेते हैं)। घड़ा राग जैसा ही 'प्रत्यय' है, एक रूपमय प्रत्यय (हालाँकि वह कला की अनुपादेयता की नहीं हमारी उपादेयता की अभिव्यक्ति है)। घड़ा अपनी अभिव्यक्ति में गतानुगतिक रूढ़ि का अंग हो जा सकता है (राग के साथ भी हम यह

कल्पना कर सकते हैं) पर घटत्वया घटप्रत्यय के चेतना में उन्मेष के बिना हम घड़े की कल्पना नहीं कर सकते। पर घटप्रत्यय राग-प्रत्यय की तरह ही सम्भावनामय है : वह भिन्न उपादानों में मिट्टी, चांदी, सोना और भिन्न रूपों में अभिव्यक्ति ले सकता है। उसकी अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति की सम्भावनाएँ, घट को घट ही रखती हैं, ये उसके घटत्व का ही प्रकाश हैं। अगर घट 'बाहर' की कोई नियत प्रदत्त, सीमित, वस्तु होता तो उसमें अभिव्यक्ति की सम्भावनाएँ भी नहीं होतीं।

हमने ऊपर की चर्चा में व्यक्तित्व और चरित्र में भेद किया था। व्यक्ति सीमित होता है (हालाँकि जिसे हम बाह्य जगत् कहते हैं, उसमें वह भी नहीं होता)। पर व्यक्ति व्यक्तित्व का रूप लेकर काव्य-कथा-उपन्यास का चरित्र हो जा सकता है। और तब उसकी सम्भावनाएँ भी खुलती हैं। कथा-जगत् में ऐसे कई चरित्र हैं जिनका एकाधिक रूप में साक्षात्कार किया गया है : राम को ही लीजिए जो वाल्मीकि, भवभूति और तुलसी में भिन्न हैं यह राम-चरित्र के राम-प्रत्यय (रामत्व) हो पाने से ही सम्भव हुआ है। शल्य जी कहते हैं : 'राम का यथार्थ रामत्व-प्रत्यय होने के कारण ही विभिन्न रामायणों की रचना सम्भव हो सकी, असंख्य नाटक, नृत्य, गीत, चित्र और मूर्तियाँ रची जा सकीं जो उस प्रत्यय को केवल अंशतः ही व्यक्त करती हैं और उससे केवल अंशतः ही सम्यक् होती हैं। वह प्रत्यय अपनी महिमा में अनवगाह्य और अपरिमेय ही बना रहता है।' ('काव्य का याथार्थ', पृ. 61-62)। यहाँ यह भी जोड़ा जा सकता है कि वाल्मीकि, भवभूति और तुलसीदास (एवं रामचरित के अन्य रचयिताओं में) जो भेद है, उसका सम्बन्ध उनके उस चरित्र के (रामत्व के) साक्षात्कार-भेद से है। राग से तुलना यहाँ और सार्थक हो जाती है : गायक-वादक की अपनी राग दृष्टि-उसके साक्षात्कार की गहराई या उसका उथलापनये उसी राग की बहुत भिन्नशांत-सौम्य, वक्र-चंचल, मृदु, पेशल, उद्विग्न, स्थिर...मूर्तियाँ निर्मित कर सकती है।

एक बात जो यहाँ उभर आई होगी वह यह कि शल्य जी की साहित्य (और कला) दृष्टि कृति को बोध की नाभि में रखती है : कृतियाँ ही कला का अपना प्रत्यय-लोक बनाती हैं। रस-विचार बहुत जल्दी कृति से हटकर सहृदय-अनुभूत रस पर आ जाता है। कृति का रस की दृष्टि से विश्लेषण पात्र विशेष को केन्द्र करते स्थायी भाव और उसको उभारते-गहराते संचारी भावों, अनुभावों एवम् अन्य उद्दीपनों पर निर्भर करता है। पर किसी भी महत् बहु-सूत्र-गुम्फित कथा-कृति को समझने के लिए भावन-विवेचन की यह सामग्री क्षीण ही नहीं, दरिद्र है। एक प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए : अभिनव गुप्त ने और उनसे पहले आनन्दवर्धन ने **महाभारत** को शान्त रस का महाकाव्य कहा है। इसे बड़ी बात कहा जाता है, क्योंकि इससे पहले किसी ने **महाभारत** को काव्य के रूप में ही नहीं देखा, इतिहास-पुराण ही कहते-समझते रहे। पर **महाभारत** को शान्त रस का काव्य कह देने से बात हमें उस कृति के भीतर कितना उतारती है? हम रस-विवेचन की सामग्री स्थायी, संचारी आदि को भी साथ

ले लें तो भी कैसी पैठ बनेगी? शल्य जी यह प्रश्न विस्तार से उठाते हैं। कहते हैं "अभिनव गुप्त ने **महाभारत** को शान्त रस का महाकाव्य कहा है, किन्तु किन अनुभावों और संचारी भावों के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है? कौन से संचारी भाव हैं जो उसमें नहीं हैं? किसी एक प्रसंग को ही लें, जैसे द्रौपदी का चीर-हरण। यहाँ विभाव क्या हैं? द्रौपदी के चीर-हरण का दृश्य या प्रसंग? किन्तु वह अपनी पूरी पृष्ठभूमि से अलग कैसे किया जा सकता है? और वह पृष्ठभूमि क्या है? उस पृष्ठभूमि का मुख्य घटक द्यूत क्रीड़ा है या कि भीष्म, द्रोण आदि की विवश उपस्थिति, या कि दुःशासन द्वारा द्रौपदी को निर्वस्त्र करने का प्रयत्न? या कि वह भयानक सङ्घ जिसे महाभारतकार सारे सामाजिक पतन में से उठती दिखा रहा है? वह पृष्ठभूमि इतनी जटिल है कि वह प्रत्येक पाठक या दर्शक के मानसिक स्तर के अनुसार ही कल्पित होगी और वह भी अत्यन्त अनिश्चित रूप से। फिर इसमें स्थायी भाव कौन सा है? इसमें किस रस की निष्पत्ति अभिप्रेत है? उसका अनुमान संचारी भावों से करेंगे या कि संचारी भावों का अनुमान रस से करेंगे? फिर, वहाँ क्या भाव ही प्रसंगोपात्त हैं, विचार नहीं? वहाँ सारा प्रसंग तो कर्मों के औचित्य-अनौचित्य का ही है, भाव तो उस औचित्य-अनौचित्य के निर्णय का ही आश्रय होगा, वहाँ स्वयं से भाव का स्वरूप क्या बनेगा? ये सब प्रश्न रस-विचार को काव्य के स्वरूप को समझने के लिए अनुपयुक्त दिखाते हैं।" ('काव्य-तत्त्व', पृ. 32-33)। **महाभारत** के बारे में जो बात यहाँ शल्य जी बहुत खोदकर, बड़ी सर्वांगीण प्राश्निकता के साथ कह रहे हैं, वही बात किसी भी महत् उपन्यास के लिए कही जा सकती है। अच्छा, गहरा उपन्यास मनुष्य भाव को ही उपलक्ष्य बनाता है, उसे समझने के लिए मनुष्य भाव को ही समझने योग्य विमर्श वैभव चाहिएज्ञान, कर्म, भाव, विचार, अध्यात्म, ये सारे क्षेत्र समझने के लिए सामग्री दे सकते हैं। हाँ, उपन्यास का अपना उपन्यासरूपेण भावन यह विषयिता में रहकर विषयिता का ग्रहण होता है : उपन्यास का विषय-प्रत्यय नहीं हो कर विषयिता-प्रत्यय का रूप लेना ही उसे काव्य बनाता है। पर वहाँ विचार की तरह भावन भी प्रत्यय-केन्द्रित ही रहता है।

अभिनव गुप्त या आनन्दवर्धन के पक्ष में कहा जा सकता है कि उन्होंने **महाभारत** को शान्त रस का महाकाव्य कहा तो एक समग्र दृष्टि और चेतना से कहा, कथा के अंग-प्रत्यंगों से ऊपर उठकर। यहाँ वे स्थाई, संचारी आदि की चिन्ता नहीं कर रहे थे। रस की धारणा को ही उदार-उदात्त अर्थ में ले रहे थे, जो भरत के रस-सूत्र को अप्रासंगिक बना देती है। **महाभारत** या दूसरी कोई सार्थक कृति चेतना को अपनी आठ-पहरी, व्यवहार-क्लिष्ट, क्षुब्ध-उद्विग्न भूमि से उठाकर उसे संवित् या चित् की स्वतंत्र, लोकोत्तर भूमि का 'आस्वाद' देती है। कृति यहाँ रस के लिए निमित्त मात्र होती है, पर अनिवार्य निमित्तरस तभी तक रहता है जब तक कृति चेतना का विषय रहती है। तभी रस को ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है (ब्रह्मानन्द निर्विषय होता है, रस

सविषय)। पर रस का किसी भी तरह ब्रह्म से मेल न ही रस की उदात्तता का, उसके चेतना के अपने स्वरूप के, सत्य के द्वार बन सकने का घोटक हैमहत् कला के महत्त्व का व्याख्यान है। शल्य जी की दृष्टि में भी ब्रह्म भाव की साधना या आत्म का अपने द्वैधी भाव के व्यवधान को मिटाते हुए अपनी उपलब्धि की ओर बढ़ना, यह उसके सत्य-संधान का परम लक्ष्य है। तो, उनसे पूछा जा सकता है कि वे कला के प्रति ऐसी दृष्टि के ऐसे प्रतिपक्षी क्यों हैं जो कृति को तो गौण करती है पर उसे संवित् साधना का निमित्त भी बनाती है? रस के प्रति अभिनव गुप्त जैसी गम्भीर दृष्टि उसे केवल 'आस्वाद्य' या 'भोग्य' की कोटि से उठाकर चेतना के अपने सत्य के अनुभूत इंगित के रूप में देखती है।

पर एक बात है। कला में कृति को प्रधान करना, या कृति-ग्राहिका चेतना को प्रधान करना, यह दोनों समझ में आते हैंइनमें एक युगनद्ध अभिन्न भाव भी है, जिसे रस-चिन्तक और शल्य जी अपनी-अपनी तरह से परखते हैं। लेकिन लेखक को (कृतिकार को) प्रधान कर देना, उसकी आपबीती में, उसी चरित-चरित्र में, कृति की पकड़, उसका मर्म, उसकी आत्मा को ढूँढ़ना, इसकी युक्ति कम समझ में आती है, हालाँकि आज दृष्टि की यह दिशा आम है, निर्विचार स्वीकृत सी है। फिर तो **रामायण, महाभारत** को ही नहीं, **अभिज्ञान शाकुन्तलम्** को भी हम 'समझ' नहीं सकते! कला के समाज-सन्दर्भ का, युग-सन्दर्भ का महत्त्व, उसका इतिहास, उसका वाद ये बड़े हो जाएँ तो कला छोटी हो जाती है। पर साहित्यकारों की मंडलियों में भी समझ की दिशा इधर ही झुकी दिखती है आज।

पर कलाओं के बीच भेद भी कृतियों को ही आधार बनाता हैभिन्न कला-कृतियों के माध्यम ही सर्वथा भिन्न होते हैं। भिन्न सहृदयता की मांग करते हैं। कृति को हम प्रत्यय के रूप में देखें तो भेद और गहराता दिख सकता है। एक अर्थ में एक ही भाषा में विचारित विषयों के परस्पर भेद से भी बड़ा दिख सकता है। कुछ भाषा-भेद जैसा ही भेद जान पड़ सकता है, जहाँ भाषा को जाने बिना उसके अर्थ में प्रवेश संभव नहीं। या भेद को उससे भी बड़ा कह सकते हैं। भिन्न भाषाओं में अनुवाद सम्भव होता है, संगीत, चित्र, भास्कर, वास्तु...इनमें अनुवाद की बात ही कोटि-व्यामोह जैसी हैये 'अनुवाद' की कोटि में ही नहीं आते। एक आशय विशेष के साथ कलाओं को भी 'भाषा' की संज्ञा दे दी जाती हैक्योंकि ये भी भाषा की तरह सार्वभौम प्रतीक-संस्थान हैं। पर भेद बहुत हैं जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता। एक बड़ा भेद जिसकी ओर अभिनव गुप्त ने ध्यान दिलाया है वह भाषा के 'वागर्थ' स्वरूप से सम्बन्ध रखता है। भाषा वाच्य-वाचक भाव से बनती है : ध्वनि (या लिपि) रूप शब्द वाचक होता है, अर्थ वाच्य। वाच्य सामान्य भी होता है : तभी हम भाषा में ही प्रत्ययों की बात करने के आदी हैं। पर नृत्य और संगीत के प्रतीकों मेंचाहे इन्हें प्रत्ययधर्मी रूप-योजना ही कह लीजिएइनमें वाच्य-वाचक भाव की बात ही कोटि-व्यामोह है। दूसरी कुछ कलाओं

मेंजैसे चित्र और मूर्तिकला में, अभिनय मेंएक और बात देखी जा सकती है जो वाच्य-वाचक भाव के कुछ समीप सी है। इसे अनुकृति-अनुकार्य भाव कह सकते हैं। चित्र, मूर्ति, अभिनय ये अपने से बाहर किसी अनुकार्य को अपने में समो सकते हैं, उसका ऐसा प्रत्यक्षवत् बिम्ब बना सकते हैं जो भाषा नहीं कर सकती, क्योंकि कला के ये रूप स्वरूप से ही इन्द्रिय-ग्राह्य होते हैं, इनका अर्थ उसी ग्राह्यता को द्वार बनाता है (अभिनय तो इसके बिना बनता ही नहीं दिखता); पर अनुकार्य-विशेष को सामने रखते हुए भी चित्र, मूर्ति, अभिनय में भाषा जैसी ही एक सामान्यता होती है, एक प्रतीक-रूपता। लेकिन संगीत और नृत्य (अभिनय-शून्य नृत्य) और वास्तु, इनमें न वाच्य-वाचक भाव होता है, न अनुकृति-अनुकार्य भाव। अभिनव गुप्त ने इन कलाओं को स्वयंप्रतिष्ठ कहा हैये अपनी ही सार्थक प्रतीकमय (प्रत्ययमय) रूप-रचना करती हैं। भाषा को छोड़ कर सभी कलाएँ स्वयंप्रतिष्ठ हो जाने में समर्थ हैं (अभिनय अपने आप में सम्पूर्ण कला इसलिए नहीं है कि अभिनय स्वप्रतिष्ठ नहीं हो सकता)। दूसरी कलाओं मेंचित्र में, मूर्ति मेंआज स्वयंप्रतिष्ठा की ललक विशेष है (अभिनव ने इनके स्वयंप्रतिष्ठ होने की बात नहीं की है, पर इसलिए भी कि उन्होंने इनकी चर्चा ही कला-सन्दर्भ से बाहर की है; पर यह भी है कि उनके समय इनके स्वयंप्रतिष्ठ रूप नहीं थे)। पर इसकी सम्भावना आज स्वतः स्पष्ट है।

कलाओं में इन भेदों के रहते अचम्भा नहीं कि एक का सहृदय अक्सर दूसरी के प्रति उदासीन दिखता है, या छिछली सी रुचि रखता है, आँख नहीं रखता। शल्य जी की अपनी संवेदना भी यों तो सब कलाओं को समोती है, उनमें उतरती भी है, पर सहृदयता का अंग-प्रत्यंग को परखता विवेक साहित्य में ही घर करता है। पर उनके कला-लक्षण में एक सर्वतोग्राहिता है जो सब कलाओं पर व्याप्त है। उनका कला-लक्षण कला-भेद से ऊपर उठता सामान्य लक्षण है।

पर यहाँ एक और बात की ओर संकेत करना चाहता हूँ जो शल्य जी ने इस तरह नहीं उभारी है। लक्षण जहाँ उन्होंने सुचिन्तित लक्षण-निष्ठा के साथ किया है वहाँ लक्षण के तीन रूप सामने रखे हैं। **मूल्य-तत्त्व-मीमांसा** के 'कला का अन्वेषण' शीर्षक अध्याय में (जिसकी ओर उन्होंने **काव्य-विमर्श** की भूमिका में इंगित किया है) शल्य जी अध्याय के पहले ही वाक्य में कला का यों लक्षण करते हैं : "कला को भावना का आत्म-निरूपण अथवा आत्मचेतन भावना का अर्थ-विजृम्भण, अथवा विषयिता का विषयिता-प्रत्यय, विषयिता-सामान्य के रूप में अवगमन कहा जा सकता है।"

यहाँ लक्षण के तीन विकल्प हैं। अन्तिम लक्षणजिस पर हम विचार करते आए हैंउनकी बात के पूरे सार को समोता है; उनके अन्यत्र लेखन में भी यही बार-बार कुछ शब्द-भेद के साथ उभर कर आता है। ऊपर की चर्चा के बाद हम देख सकते हैं कि 'भावना का आत्म निरूपण', या 'आत्मचेतन भावना का अर्थ विजृम्भण'

कहने में भी आशय या अभिप्राय वहीं है। भावना का आत्म-निरूपण भावना के आत्मचेतन होने पर ही हो सकता है, यह निरूपण भावना के अपने साक्षात्कार की अपेक्षा रखता है, जो सृजन के अर्थ-विजृम्भण का बीज है। निरूपण या अर्थ-विजृम्भण सामान्य अर्थवाही, अर्थान्मेषी प्रत्ययों में होता है, इसलिए 'विषयिता का विषयिता प्रत्यय के रूप में अवगमन' ही होता है।

पर हम ऊपर देख चुके हैं कि विषयिता भावना से व्यापकतर प्रत्यय है विषयिता भावना को ही नहीं, हमारे दैहिक भोक्तृत्व को भी समोती है, कर्म और विचार के अनुभूत पक्ष को भी समोती है। यों पहले दो लक्षण अधूरे लग सकते हैं। पर संगीत और नृत्य कोया चित्र, मूर्ति के स्वयंप्रतिष्ठ रूपों को लीजिए, और इन्हें ही नहीं, काव्य की कई अभिव्यक्तियों को लीजिए (जैसे शल्य जी के ही दृष्टान्त में मीरा के पदों को), वहाँ विषयिता भावना-प्रधान ही नहीं, भावना-वलियत ही दिखाई देती हैमानो भावनासार भावनासर्वस्व हो। वहाँ पहले दो लक्षण ही अधिक उपयुक्त ठहरते दीखते हैं। यो लक्षणों में आशयैक्य के साथ कला-भेद-बोध भी आगे आता देखा जा सकता है। कविता सेया कविता की गीतात्मक अभिव्यक्तियों सेभी कहीं निबिड़ भाव से संगीत में भावना मानो स्वर-लय के माध्यम से अपना ही आत्म-विमर्श करती उभरती है। यही बात नृत्य में, स्वयंप्रतिष्ठ चित्र और मूर्ति में भी उभर कर आती है। यहाँ भावना अपने दैनन्दिन रूपों से भी अलग, नितान्त भिन्न परिचय भी रखती जान पड़ती है। स्वरों, रेखाओं-वर्णों, अंगहारों में निरूपित भावों को वे नाम नहीं दिए जा सकते जो हम व्यवहार में भावों को नाम देते हैं, और जो मनोविज्ञान और नाट्यशास्त्र में स्वीकृत हैं : भय, रति, स्नेह, जुगुप्सा, क्रोध, हास...। स्वयंप्रतिष्ठ कला के भावों को इन कोटियों में नहीं रखा जा सकता। संगीत को लीजिए। संगीत भावना का ही विभिन्न स्तरों पर भावन-साक्षात्कार-सर्जन करता है, पर भावना ही व्यवहार की कोटियों में विभक्त होती है। अपनी विशुद्ध, व्यवहार से प्राक् या व्यवहार से प्रत्यक् गतियों, रूपों, लय-छन्दों का आत्म-विमर्श, आत्म-निरूपण, विजृम्भण करती है। भय, रति, क्रोध अपनी लौकिक अभिव्यक्ति में भिन्न हैं, पर इनकी अवस्थाओं में एक सामान्य भाव-धरातल भी होता है। संगीत इसे पकड़ता है, तभी नाटक में वही स्वर-योजना भय, रति, क्रोध के रूपों का समान रूप से साथ देती है। जिसे मैं यहाँ 'सामान्य भाव-धरातल' कह रहा हूँ, उसे पुराने आलंकारिकों के शब्दों में गुणों का नाम दिया जा सकता है। उनके नामों हो हम लें, न लें, इतना तो देख ही सकते हैं कि ओज, दीप्ति, कान्ति, द्रव, दैन्य, काठिन्य, औदात्य, माधुर्य...ये ऐसे गुण हैं जो भिन्न परिचित भावों में सामान्य हो सकते हैंक्रोध, उत्साह, रति...इन सबकी अवस्था-विशेष का भाव-धरातल बनाते हैं। द्रव-गुण करुण, रति, भय सबमें समान रूप से हो सकता है। संगीत गुण को रूप देता जान पड़ता है। नाटक में, फिल्म में संगीत के ऐसे कई उदाहरण मिल जाएँगे। कुछ नृत्य के लिए भी यही कह सकते हैं। पर संगीत और नृत्य

दोनों अन्य कलाओं का साथ ही नहीं देते, अपने रूप भी साधते हैं, जैसे राग में, अंगहारों के व्यूह में, और तब ये सचमुच अपनी तरह से भावना का आत्म-निरूपण और अर्थ-विजृम्भण ही करते हैं। चित्र के स्वयंप्रतिष्ठ रूप भी अपनी तरह से यही करते हैं। वहाँ भाव या भाव-विद्धता संगीत या नृत्य की तरह स्फुट-प्रस्तुत नहीं होती, रूप ही बोध के सम्मुखीन होता है; यह रूप ही भाव होता है : भाव क्या है, यह बताने के लिए रूप को ही टटोलना पड़ता है, वही भाव-प्रत्यय होता है। वास्तु में यह बात और भी प्रकट है। संगीत, नृत्य में भी बात यही होती है, पर उनके रूप जैसे भाव को साक्षात् समोये रहते हैं।

बात यहीं पूरी करता हूँ। लेख **काव्य-विमर्श** पर उतना नहीं है, जितना **काव्य-विमर्श** की मेरी अपनी भूमिका जैसा है। पर इसे मैं अनुपयुक्त नहीं समझताकह ही चुका हूँ कि **काव्य-विमर्श** चिन्तन की एक पृष्ठभूमि चाहता है जो शल्य जी के समूचे चिन्तन का एक परिप्रेक्ष्य दे। यहाँ मेरी यही चेष्टा रही है। वैसे भी **काव्य-विमर्श** के कुछ प्रमुख लेखों पर मैंने जो टिप्पणी की है, वे पुस्तक में समाविष्ट हैं। दूसरे लेखों पर भी लिखने की वैसी दिशा ले सकता था, पर वह भी शल्य जी के चिन्तन को ऊह्य रखती है, जिस ऊह्य को यहाँ उभारने का प्रयास है।

Dialogue

Quarterly English Journal of
Astha Bharati ,Delhi

28 issues already published

Published Special Numbers:

Illegal Migration from Bangladesh
Central Asia

Fiscal Mismanagement in North East India

Maoist Insurgency in Nepal and India

India: Security Dimensions,

Indian Islands: Andaman &

Nicobar Islands and Lakshadwip

South-East Asia

Secularism: India in Labyrinth

India's Neighbourhood

Governance in the North-East

Policing in India

India and Central Asia

Population Issues

Naxalism

Indo-Pakistan Relations & Kashmir

Media in India

India's North-East

India: Political Culture, Governance & Growth

Forthcoming Issue:

Understanding India

पुस्तक-चर्चा

‘धर्म’ और ‘धर्म-संकट’ के प्रत्ययों पर एक धीमान का काव्य-शास्त्र विनोद*

रामेश्वर मिश्र ‘पंकज’**

धर्म संकट मुकुन्द लाठ का आत्म-मनन है। वह ‘आत्म’ विशद और प्रशस्त है, अतः वह पाठकों के लिए भी मनन का विषय बन जाता है। पाठक उसमें अपने आत्म-मनन के योग्य बहुत कुछ पाता है, पाता जाता है।

मुकुन्द लाठ के इस ‘आत्म’ को पहचानना कठिन नहीं है। उसके विशेष स्वरूप की पहचान सहज सम्भव है। उनका यह ‘आत्म’ भारत के इन दिनों अंग्रेजी पढ़े-लिखे अथवा अंग्रेजी के अनुवाद को ही भारतीय भाषा में पढ़-लिख रहे शिक्षित भारतीयों का ‘आत्म’ है। यह उनलोगों का ‘आत्म’ है जिन्हें मुकुन्द जी ‘हम’ कहते हैं :

“हम पश्चिम की उस विशेष परम्परा से अभिभूत ही नहीं, उसके संस्कारों में रंग चुके हैं, जो विशेष परम्परा अपने विशेष रूपों को ही सामान्य का एकमात्र स्वरूप बता रही है। यह (पश्चिम की) परम्परा आज एकमात्र सार्वभौम परम्परा होने का दम भरती है। कहती है कि उसने विचार की जो भाषा साधी है, वह विचारलोक की देवभाषा है।” (धर्म-संकट, पृष्ठ 2-3)

यह पढ़ते हुए मैं पहले तो यह समझने का यत्न करता रहा कि मुकुन्द जी जैसा अतिशिक्षित विद्वान ‘पश्चिम’ किसे कह रहा है। तथाकथित ‘यूरोप’ (यह नाम 19वीं शती ईस्वी से पूर्व मानव-इतिहास में कभी प्रयुक्त नहीं हुआ है) के जिन देशों को मुकुन्द जी (भी) पश्चिम कह रहे हैं, वे तो ज्यादातर शून्य देशान्तर रेखा के पूर्व में स्थित देश हैं, उनमें से इंग्लैण्ड ठीक मध्य में स्थित है; तब ये देश पश्चिम कैसे हुए? क्या इसलिए कि कभी क्रिश्चियनिटी ने अपनी पूर्वी एवं पश्चिमी प्रभाव-क्षेत्रों को (रोम को केन्द्र में रखकर) ‘ईस्ट’ और ‘वेस्ट’ कहना शुरू कर दिया था? ब्रिटिश प्रभुत्व-काल

* धर्म संकट, मुकुन्द लाठ प्रकाशक : दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर के लिए राका प्रकाशन, इलाहाबाद (2004), समीक्षक : प्रो. रामेश्वर मिश्र ‘पंकज’, दिदेशक, निराला सृजनपीठ,, सी-165/1, प्रोफेसर कॉलोनी, भोपाल।

** प्रो. रामेश्वर मिश्र ‘पंकज’ हिन्दी के जाने-माने लेखक-समीक्षक तथा निराला सृजनपीठ, भोपाल के निदेशक हैं।

में मेधावी भारतीयों ने बिना वह सन्दर्भ याद रखे 'इस्ट'-'वेस्ट' का प्रयोग जारी रखा तो यह सहज था। पर स्वाधीन भारत में मुकुन्द जी जैसा बहुपठित विद्वान इस प्रयोग को क्यों जारी रखे हुए है? तो क्या मुकुन्द जी भी स्वयं को 'फेथफुल क्रिश्चियन' मानते हैं? 'यूरोप' के ये देश न तो भारत के पश्चिम में हैं न ही शून्य देशान्तर रेखा के पश्चिम में। तब ये पश्चिम कैसे हो गए? किस परम्परा में स्थित होकर मुकुन्द जी इन 'यूरोक्रिश्चियन वेस्टर्न' देशों को पश्चिम कह रहे हैं और क्यों कह रहे हैं? इन्हें 'पश्चिमी ईसाइयत वाले देश' कहना तो समझा जा सकता है पर इन्हें केवल 'पश्चिम' कहने का क्या अर्थ है?

राजनैतिक शक्ति का केन्द्र इन दिनों यूरो-अमेरिकी सेकुलर क्रिश्चियन देश हैं और उस शक्ति-मद में वे स्वयं को बौद्धिक शक्ति का स्वयम्भू केन्द्र भी मान बैठे हैं। परन्तु इससे भारतीय बौद्धिकों के समक्ष ऐसी कोई विवशता उत्पन्न नहीं हो गई है कि वे उन देशों के विद्वानों के बौद्धिक दावों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करें व उनके खण्डन-मण्डन में शक्ति का बड़ा अंश लगाएँ। उन दावों की उपेक्षा करते हुए भी अपनी बात कही जा सकती है। अगर कही नहीं जा रही है, तो इसकी कारण-मीमांसा अलग करणीय है।

मुकुन्द जी स्पष्ट करते हैं "पश्चिम में ही नहीं, पश्चिम से हावी हमारे मन में भी यह बात कहीं गहरी समा चुकी है कि पश्चिम की जो प्रबल दृष्टि मानव-मात्र के इतिहास में एक प्रधान धारा का प्रवाह देखती है और इस प्रवाह को पश्चिम में रखती है, वह (प्रबल दृष्टि) एक तरह से साक्षात् 'ग्लोबल' दृष्टि है" (पृ. 34)

यहाँ ये किनके मन को 'हमारा मन' कह रहे हैं? पर भारतीय मुसलमान तो ऐसा नहीं मानते। भारत के ईसाई ऐसा मानते हैं पर फिर वे भारतीय मन की कोई वैधता ही नहीं मानते। उनकी दृष्टि में यह भारतीय मन तो 'रिडण्डेण्ड', 'आउटडेटेड' धारणाओं का वशवर्ती मन है। गॉड के इकालौते बेटे जीजस क्राइस्ट के आने के बाद, पहले की सभी धारणाएँ 'रिडण्डेण्ड' हो चुकी हैं। यही 'दृष्टि' भारत के कम्युनिस्टों की है जो मार्क्स के पूर्व की दृष्टियों को व्यतीत मानते हैं पर भारत के धर्माचार्य व मनीषी तो ऐसा कुछ नहीं मानते।

महात्मा गाँधी, श्री अरविन्द, श्री रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, आदि कोई भी इसे नहीं मानते। अतः ये सब महान् विचारक और इनको मानने वाले लोग भी मुकुन्द जी की इन पंक्तियों में अभिप्रेत 'हमारा मन' से बाहर हैं। सम्भवतः यह यूरोक्रिश्चियन-भारतीय संस्करण से भरपूर शिक्षित हिन्दू बौद्धिकों का मन है, जिसे मुकुन्द जी 'हमारा मन' कह रहे हैं। परन्तु यह मन किसी गहन विशद चिन्तन से निर्मित तो नहीं है। यूरोक्रिश्चियन-भारतीय बौद्धिक संस्करण के इन प्रतिनिधि बौद्धिकों ने आज तक कभी किसी सामूहिक बैठक, संगोष्ठी, विमर्श या ज्ञान-सत्र में गम्भीर मन्त्रणा या विचार-मन्थन द्वारा यह निर्णय लिया हो कि यूरोक्रिश्चियन एवं ख्रीस्त-अमरीकी

विद्वानों की यह मान्यता हमें स्वीकार है कि उनकी दृष्टि ही 'ग्लोबल' दृष्टि है, ऐसी कोई जानकारी हमें नहीं है। हाँ, भारत के शासन को इन दिनों सम्हाल रहे अफसरों एवं राजपुरुषों ने अनायास ही यह धारणा स्वीकार कर रखी है और उनके प्रभाव से, सम्भवतः उन्हें प्रसन्न रखने के लिए या उनके प्रति उत्कट राजभक्ति के भाव से भरकर उक्त हिन्दू भारतीय बौद्धिक वर्णसंकरों ने भी बिना किसी गम्भीर विमर्श या विचार-मन्थन के सहज ही यह मान्यता पाल रखी है, यह सत्य है। अतः यह ऐसे समकालीन राजभक्त हिन्दू बौद्धिकों का मन है जो राष्ट्रभक्ति से रहित या उदासीन हैं और जो आधारभूत प्रत्ययों एवं धारणाओं के प्रति कामचलाऊ रवैया रखकर बौद्धिक जीवन जीते हैं, अतः बौद्धिक दृष्टि से अगम्भीर हैं और जो भिन्न प्रकार के राजपुरुषों एवं अफसरों के सत्तारूढ़ होने पर अनायास ही अपनी इन मान्यताओं को बदल लेंगे। इस प्रकार उनके मन का निर्धारक तत्त्व अध्ययन-मनन और विद्या-बुद्धि नहीं है, अपितु राजनैतिक बल का प्रधान-प्रवाह एवं आकर्षण ही उनके मन को निर्धारित करता रहता है। अतः उस 'हमारे मन' में जो बात समाई है, वह ज्यादा गहरे नहीं समाई है। गहरे तो वहाँ केवल राजभक्ति या शासकों की मुँहदेखी ही समाई हुई है। राजसत्ता पर भिन्न विचारों वाले लोग आए तो उस मन में तत्परता से उनकी भिन्न बात समा जाएगी। गहरे कहीं कुछ नहीं समाया है। कुल सौ सालों से भी कम का, एक विशिष्ट शिक्षित वर्ग के मन का यह मामला है। बौद्धिक विमर्श में इसका अधिक महत्त्व नहीं है। यह उक्त 'हमारा मन' राजभक्तों का मन है? उसका उपचार राजनीति में है, चिन्तन-मनन में नहीं है।

यों ऐसे कथनों से लग उठता है कि मूल धर्म-संकट मुकुन्द जी जैसों का यह है कि वे स्पष्ट नहीं हैं कि उनका धर्म क्या है? या कहे कि वे किस धर्म-परम्परा के अवयव हैं? अथवा यह कि उनकी परम्परा का सामान्य धर्म क्या है? परन्तु बात ऐसी बिल्कुल नहीं है। किसी 'रिलीजन' या 'मजहब' को वे अपना समष्टिगत धर्म नहीं मानते। साथ ही यूरोक्रिश्चियन दृष्टि को एकमात्र 'ग्लोबल' दृष्टि भी नहीं मानते। उन्होंने तो यूरोभारतीय ख्रीस्त हिन्दू बौद्धिकों के मत को पूर्व पक्ष की तरह ही रखा है।

चर्चाधीन पुस्तक में पृष्ठ-7 पर मुकुन्द जी कहते हैं

'ग्रीस में अगर मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण रीजन या बुद्धि किया गया है तो हम कह सकते हैं कि भारत की मनीषा के लिए मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण ही धर्म है : मनुष्य वह है जो धर्म साधता है। शेष जगत के लिए धर्म किसी भी तरह की साधना नहीं होता।'

यहाँ शेष जगत विषयक मुकुन्द जी का कथन मेरी दृष्टि में सत्य नहीं है। पर वह प्रसंग यहाँ प्रधान नहीं है। प्रधान यह तथ्य है कि मुकुन्द जी जानते हैं कि भारत की मनीषा के लिए मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण ही धर्म है। अतः धर्मसंकट का सन्दर्भ

स्पष्टतः और विशिष्टतः भारतीय है। जिसे मुकुन्द जी (भी) पश्चिम कहते हैं, उसके लिए धर्म और 'धर्मसंकट' दोनों इन दिनों अपरिचित हैं। प्राचीन (ख्रीस्तपूर्व) 'यूरोपीय' देशों के बारे में भारत में जानकारी नगण्य है। इस प्रकार धर्मसंकट का सन्दर्भ 'ग्लोबल' नहीं है। वह विशेषतः भारतीय है। कोई एक वास्तविक 'ग्लोबल' दृष्टि अभी विश्व में है भी नहीं क्योंकि उसके लिए तो विश्व की सभी दृष्टियों के प्रतिनिधियों के सुदीर्घ विमर्श के उपरान्त लिए गए आधारभूत निर्णय अपेक्षित हैं।

मुकुन्द जी कहते हैं "धर्म 'में क्या करूँ' के प्रश्न का ही नहीं, 'हम क्या करें' के प्रश्न का भी उत्तर ढूँढ़ता है। व्यक्ति का ही नहीं, समष्टि का भी धर्म होता है। ...समाज के कर्म का औचित्यलोकयात्रा का, लोक-व्यवहार का औचित्ययह भी धर्म का ही प्रश्न है। धर्मसूत्रों में, स्मृति, पुराणों में 'धर्म' प्रधानतः लोकयात्रा एवं लोक-व्यवहार का औचित्य यह भी धर्म का ही प्रश्न है। धर्म सूत्रों में, स्मृति पुराणों में 'धर्म' प्रधानतः लोक यात्रा और लोक व्यवहार का ही धर्म है।" (वही, पृष्ठ 7-8) इस दृष्टि से यह पुस्तक कुछ निराश करती है। यह समकालीन भारतीयों की लोक-यात्रा एवं लोक-व्यवहार के विषय में लगभग कुछ भी नहीं बताती। निम्न में से अधिकांश महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के विषय में यह पुस्तक कोई भी विवेचना नहीं करती। इनमें से केवल एकाध प्रश्नों पर ही इसमें विचार किया गया है

1. सर्वविदित है कि वर्तमान में भारत में सनातन भारतीय संस्कृति (जिसे अब हिन्दू संस्कृति कहा जाता है) को राज्य-व्यवहार और समाज-व्यवहार में कोई भी वैधता, प्रमाण-भावना एवं अधिकार-प्राप्त नहीं है। केवल कतिपय कर्मकाण्डों में ही भारतीय संस्कृति के अंश अवशिष्ट हैं। भारत का राज्य-व्यवहार एंग्लो-सैक्सन क्रिश्चियन लॉ के एक विशिष्ट भारतीय संवैधानिक संस्करण से शासित-अनुशासित है। भारत के समाज का वृहद् व्यवहार मुख्यतः इसी संविधान से अनुशासित है, जिसमें भारतीय संस्कृति का कोई भी स्थान एवं प्रभाव नहीं है। भारतीय समाज के बड़े अंश को अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के नागरिक अधिकार के रूप में भारतीय शास्त्रों पर चर्चा करने, उत्सव-अनुष्ठान आदि मानने की स्वतन्त्रता एक सीमा तक प्राप्त है। परन्तु शिक्षा संस्कृति-नीति, समाज-व्यवहार कहीं भी भारतीय शास्त्रों एवं संस्कृति की कोई भी प्रभुता नहीं है। ऐसी स्थिति में भारतीय संस्कृति को भारत का धर्म मानने वाले लोगों का शिक्षा क्षेत्र में तथा राज्यतन्त्र के प्रति व्यवहार के क्षेत्र में क्या धर्म है? इस पुस्तक में इसका कहीं उल्लेख तक नहीं है।

2. अन्तर्राष्ट्रीय इस्लामवादी संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय क्रिश्चियन संगठन एवं अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन भारत को अपनी-अपनी प्रभुता एवं नियन्त्रण के क्षेत्र में लाने के लिए हिंस्र बर्बर, क्रूर, छल-घात पूर्ण करोड़ों उपायों का आश्रय अहर्निश ले रहे हैं। संस्कारी, संकल्पवान एवं पुरुषार्थ-अभिलाषी हिन्दुओं का इस स्थिति में क्या धर्म है?

आनृशंस्य के प्रश्न पर मुकुन्द जी ने विशद मनन किया है। वे बहुत सुन्दर ढंग से दो अध्यायों में इस पर सम्यक् ऊह एवं अपोहपूर्वक चिन्तन करते हैं। एक अध्याय का शीर्षक ही है 'आनृशंस्य'; दूसरे का है 'धर्म-विभाग और धर्म-संकट' (पृ. 65 से 116-)। विशद विमर्शपूर्वक मुकुन्द जी महाभारत में संजय से कहे गए कृष्ण-वचन उद्धृत करते हैं

"कोई बल के प्रयोग से जब किसी दूसरे की भूमि का लोलुप हो जाता है, तो...वह नृशंस होता है (पृ. 100)।" नृशंसता के विरुद्ध युद्ध धर्म है। नृशंस की नृशंसता से मनुष्यों, प्राणियों, पर्यावरण की रक्षा करने के लिए नृशंस का वध आवश्यक है। ऐसा वध आनृशंस्य का अंग है। ऐसा वध वस्तुतः 'अवध' और 'प्रभव' का अनिवार्य अंग है।

मुकुन्द जी बताते हैं "कसौटी यहाँ सत्य है।...सत्य और समता मिलकर सत्य के 'न्याय' अर्थ को पुष्ट करते हैं। समता न्याय का आधार है।...यहाँ प्रभव के साथ...समता या...न्याय है।" (पृ. 100-101)। यहाँ वे महाभारत से कृष्ण वचन उद्धृत करते हैं कि 'इन्द्र ने अप्रमत्त रहकर सत्य, धर्म, दम, तितिक्षा, समता एवं अन्यों के लिए प्रीतिकर कार्यों का पालन किया, इसीलिए वे देवों के राजा हुए अपने कर्मों की श्रेष्ठता के कारण।' (पृ. 101) इस प्रकार सत्य, धर्म आदि सब कर्म होकर, आचरण होकर ही फलवान हैं, मात्र वचन होकर नहीं। विशेषतः राजा का आचरण प्रभव-सम्पन्न होना चाहिए। नृशंसता की अनुमति दे रहा राजा अपने कर्म से हिंसा को प्रश्रय देता है, वध का विस्तार होने देता है और प्रभव के क्षय का कारण बनता है, क्योंकि प्रभव का अर्थ है प्रकट होना, प्रभूत होना। नृशंसता प्रभव को अवरुद्ध करती है। नृशंसता के प्रति उदासीन या उदार राजा भी प्रभव को अवरुद्ध करता है, अतः ऐसी उदासीनता या उदारता, राजा की नृशंसता ही है। आनृशंस्य के नाम पर नृशंसों, आततायियों के प्रति उदारता या उदासीनता नृशंसता है, वध है, हिंसा है। यह तो मुकुन्द जी स्पष्ट कर देते हैं। परन्तु मुकुन्द जी कहते हैं कि युद्ध को आनृशंस्य की कोटि में रखना अटपटा-सा लगता है; क्योंकि युद्ध में न अवध है, न प्रभव है, न प्राण-रक्षा, न कोई मंगलमयी परिणाम-दर्शिता (पृ. 115)। वस्तुतः मुकुन्द जी का यह कथन ही अटपटा है। अन्यत्र वे स्वयं कह चुके हैं कि "जिनके लिए अधर्म की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है (जिनके लिए वह धर्म का ज्ञान न होना मात्र है), उनके लिए अधर्म के विरोध में युद्ध की बात नहीं उठ सकती।...यह दृष्टि बिना रीढ़ की दिलमिल-सी ही दृष्टि है। (पृ. 104-105)। पर यहाँ वे अधर्म के विरुद्ध युद्ध को आनृशंस्य एवं अवध से रहित मानते हैं। वस्तुतः मुकुन्द जी के यहाँ एक बड़ा भ्रम यह है कि व्यष्टि एवं समष्टि के भेद को वे बारम्बार भुला देते हैं। अवध और आनृशंस्य यदि परम धर्म है तो समष्टि के स्तर पर भी वह परम धर्म है। समष्टि की दृष्टि से

देखना होगा कि आततायियों द्वारा, नृशंसों द्वारा, वधकर्ताओं द्वारा जो नृशंसता हो रही है, वध हो रहा है, वह रोकना आनृशंस्य एवं अवध का अनिवार्य अंग है। अतः धर्ममय युद्ध में आनृशंस्य और अवध तो स्पष्टतः निहित हैं व्यक्ति-स्तर पर वह युद्ध एक अपेक्षाकृत सीमित वध-कर्म है (लाखों आततायी मारे जाएँ तो भी वह सीमित वध ही कहलाएगा, क्योंकि वे लाखों नृशंस आततायी करोड़ों के वध के लिए उद्यत, तत्पर, प्रयासरत होंगे।), परन्तु समष्टि की दृष्टि से तो वह आनृशंस्य और अवध का विस्तार है और नृशंसता तथा वध का अवरोध एवं उन्मूलन है। वध का उन्मूलन अवध का प्रभव है। नृशंसता का दमन आनृशंस्य का अवयव है। यह भुलाने पर तो आतंकवादियों, उग्रवादियों आदि को दण्डित करना भी अवध का विरोध नजर आएगा। मंगलमय परिणाम वहाँ नहीं दिखेगाऐसी विस्मृति-ग्रस्त दृष्टि को। स्पष्टतः इस प्रश्न पर विशद ऊहापोह द्वारा अनेक जगह मुकुन्द जी ने भली-भाँति प्रकाश डाला है, पर फिर विद्या-विनोद में स्वयं ही उलझ-ठिठक गए हैं। यह विनोद रंजनकारी तो है, कान्ता-सम्मिit उपदेश भी है, परन्तु साथ ही, अनेक संशयों एवं दुविधाओं का प्रेरक भी है।

3. अगला प्रश्न यह उठता है कि यदि धर्म एवं दिव्य सत्ता के प्रति श्रद्धा पर अकारण प्रहार, आक्षेप आदि कर रहे आततायी का वध धर्म है तो ऐसा वध करने वाले पुरुषार्थी वर्तमान कानूनों के अन्तर्गत जो दण्ड पाते हैं, पाएँगे वह दण्ड सहना धर्म की दृष्टि से तप है या नहीं? पुण्य कर्म है या नहीं? उन वीरों के द्वारा ऐसे कानूनी दण्डों को सहने से धर्म की वृद्धि होगी या नहीं? इन जवलन्त प्रश्नों पर मुकुन्द जी ने चर्चा तक नहीं की है।

4. आततायियों के वध को भी दण्डनीय अपराध घोषित करने वाले कानून की आज जो व्यवस्था भारत में है, उसे समाप्त करना धर्म है या अधर्म? यदि धर्म है तो यह किसका धर्म है? कैसा व्यवहार धर्म है, कैसा नहीं? इस पर पुस्तक कोई विचार नहीं करती।

5. श्री मुकुन्द जी जिस विश्वविद्यालय में पढ़ाते हैं, वहाँ तथा अन्यत्र भी सर्वत्र विश्वविद्यालयों में राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि मानविकी विद्याओं में केवल यूरोक्रिश्चियन-अमरिकी मान्यताओं, आस्थाओं एवं धारणाओं को ही सार्वभौम या ग्लोबल या एकमात्र युगीन, वैध, अधिकृत धारणाओं की तरह पढ़ाए जाने की व्यवस्था करना और पढ़ाया जाना धर्म है या अधर्म है? भारत के करोड़ों धर्मावलम्बियों की प्रज्ञा, बुद्धि, श्रद्धा एवं ज्ञान-परम्परा को इस प्रकार व्यतीत, अतीत, पुरानी, अप्रासंगिक आदि स्वतः ही मानकर उसे केन्द्र-स्थान से च्युत कर देना पाप है या पुण्य? यदि पाप है तो इस पाप में सहभागी शिक्षकों, एकेडमीशियनों, बौद्धिकों के लिए कौन-सा प्रायश्चित्त करणीय है? इन प्रश्नों पर मुकुन्द जी ने सांकेतिक चर्चा तक नहीं की है।

6. धर्म के विशिष्ट एवं सूक्ष्म प्रश्नों पर तो मुकुन्द जी ने खूब चर्चा की है, परन्तु ये प्रश्न तो अति विशिष्ट विवेकवान धर्मनिष्ठ व्यक्तियों के जीवन में ही उदित होते हैं। सामान्य धर्मों की चर्चा पुस्तक में लगभग नगण्य या अत्यल्प क्यों है? भारत में इन दिनों धर्म के ये अति विशिष्ट प्रश्न किनके जीवन-व्यवहार में कभी उदित होते देखे जाते हैं? जिन्हें मुकुन्द जी 'हमारे मन' कहते हैं, वहाँ तो निजी पद-प्रतिष्ठा, आर्थिक एवं लौकिक प्रभुता-संग्रह (प्रायः धर्म-निरपेक्ष जीवन द्वारा), यूरोक्रिश्चियन विद्वानों का अविचारित अनुसरण, संसार के गैर-यूरो-क्रिश्चियन समाजों और राष्ट्रों की विद्याओं एवं विद्वानों के प्रति घोर उपेक्षा, अवहेलना और अज्ञान तथा नितान्त तात्कालिक चर्चाओं में अतिशय रति और साथ ही, भारतीय शास्त्रों तथा धर्मग्रन्थों के प्रति व्यापक उदासीनता या अवमानना ही प्रधान है। साथ ही, राजनैतिक निर्णयों के प्रति अतिशय आस्था या राजभक्ति अथवा मुँहदेखी की सामान्य प्रवृत्ति है। ऐसा सामान्य बौद्धिक परिदृश्य किस मनोदशा, बुद्धिदशा एवं चित्तदशा का फल है, इस पर पुस्तक में कहीं कोई चर्चा ही नहीं है। धर्म की व्यापक ग्लानि के इस सामान्य तथ्य पर मौन धारण कर धर्म के अति सूक्ष्म, अति विशिष्ट ऊहापोह में रति भी स्वयं में एक श्रेष्ठ कर्म ही है। परन्तु इस श्रेष्ठ कर्म का लोक-व्यवहार से, लोक-यात्रा से, धर्मशास्त्रीय, स्मृतिमूलक एवं पौराणिक धर्म-विमर्श से तो कोई सम्बन्ध नहीं ठहरता। लोक-व्यवहार एवं लोकयात्रा के समकालीन सन्दर्भ एवं प्रश्न इस धर्म-चर्चा में मुकुन्द जी के द्वारा उपेक्षित क्यों हैं?

7. मुकुन्द जी के शब्दों में 'धर्मशास्त्रों, स्मृतियों, पुराणों में जो लोक-यात्रा एवं लोक-व्यवहार ही धर्म है। (पुस्तक का पृ. 7-8); उस धर्म के बहुलांश के विषय में यह पुस्तक चर्चा तक नहीं करती।

मुकुन्द जी निश्चय ही भारतीय काव्यों और भारतीय शास्त्रों के गम्भीर अध्येता हैं। वे बताते हैं कि महाभारत में यथाप्रसंग भिन्न-भिन्न परम धर्म बताए गए हैं अहिंसा, आनृशंस्य, आचार। फिर वे कहते हैं "हमारे स्वतन्त्र होने का अर्थ ही है साध्य का अनेकान्त होना।" पर इस अनेकान्त में क्या हिंसा और अहिंसा, क्रूरता और संवेदनशीलता-सभी समान रूप से प्रतिष्ठित हैं? मुकुन्द जी जब बाइबिल और वेद को समकक्ष रखकर देखते हैं (पृ. 12), तब तो यही लगता है कि 'धर्म' शब्द उनके लिए इतना अधिक खुला है।

अगले अध्याय में मुकुन्द जी बतलाते हैं कि जैमिनीय ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ को एक गम्भीरतर सृष्टि और जीवन कर्म के प्रतीक के रूप में लेता है। यज्ञ की यह सर्वांगीण धारणा मीमांसा में अनुपस्थित है। फिर वे जैमिनीय ब्राह्मण का यह अंश स्मरण करते हैं

“याज्ञवल्क्य जनक से कहते हैं आहुति देने के लिए कुछ भी न हो तो सत्य की श्रद्धा में आहुति दे।” आगे वे बताते हैं “सत्य का चरम ध्रुव छन्द ऋत है ऋत

को कर्म से जगाए रखना ही यज्ञ है। श्रद्धा ही हमें यज्ञ के आदर्श की ओर मोड़ती है। फिर ऊह और ऊपोह के साथ वे कहते हैं“श्रद्धा के बिना सत्य की बात ही नहीं हो सकती। श्रद्धा ही सत्य की जिज्ञासा की लौ है। हमारा सत्य से सम्बन्ध श्रद्धा के माध्यम से बनता है। श्रद्धा की लौ को भी सत्य से जुड़ने के लिए सत्य का ही स्नेह चाहिए। यज्ञ, अयज्ञ में भेद यही है कि यज्ञ में श्रद्धा की साधना सत्य से दीप्त रहती है। (पृ. 18-19)

यहाँ पहुँचने पर सहज तो यह होता कि मुकुन्द जी यह विचार करते कि सत्य क्या है अथवा यह कि सत्य क्या-क्या है और उसे असत्य से अलग कर कैसे पहचाना जा सकता है, पहचान की प्रक्रिया क्या है, प्रमाण क्या है? परन्तु इस प्रश्न को उन्होंने छूकर छोड़ दिया है। वे सत्य और असत्य में भेद-विवेक के प्रश्न से कतराकर चलते हैं। इसीलिए तो उन्हें बाइबिल की आचार-संहिता और वैदिक आचार-संहिता में कोई तात्विक भेद नहीं दिखाई पड़ता और इसीलिए उन्हें श्रद्धा और ‘फेथ’ का भी अन्तर नहीं समझ में आता। बाइबिल ‘फेथ’ पर टिकी है, वेद सत्य एवं श्रद्धा पर। मुकुन्द जी के लिए इनमें कोई भेद ही नहीं है।

यों, मुकुन्द जी स्पष्ट कहते हैं कि “यज्ञ का अर्थ है हमारे ज्ञान, भाव, कर्मइन सभी वृत्तियों का किसी आदर्श ‘अमृत’ में स्थित होना।” (पृ. 19-20) इस प्रकार यज्ञ ही धर्म है, धर्म ही यज्ञ है। परन्तु धर्म और अधर्म की पहचान कैसे हो?

वे कहते हैं कि“आर्य (श्रेष्ठ या अच्छे, भले लोग) जिसके किए जाने पर प्रशंसा करते हैं, वह धर्म है, जिसकी निन्दा करते हैं, वह अधर्म है। दूसरे शब्दों में धर्म का आधार शिष्टाचार है।” (वही पृ. 22)

“धर्मज्ञों जनों ने जो व्यवस्था खड़ी की है, वही कर्म के औचित्य के लिए प्रमाण है और वेद प्रमाण हैं। ...हम आत्मस्थ, जितेन्द्रिय, विवेकवान, अलोलुप, दम्भरहित, आत्मवान वृद्धों के आचरण के सदृश आचरण करें।” (पृ. 23) यह सब लिख रहे मुकुन्द जी को लोभ, दम्भ और ईर्ष्या पर टिकी आचार-संहिता में भी ‘धर्म’ नजर आता है, ‘फेथ’ में सत्य और श्रद्धा एकसाथ नजर आते हैं, इसे क्या कहा जाए?

बहरहाल, यदि मुकुन्द जी का यह तर्क मान लिया जाए कि “अपनी परम्परा में स्थापित सदाचरण के मार्ग पर चलते रहें, यही धर्ममय आचरण है” (पृ. 30) तो इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि बाइबिल के अनुयायियों के लिए धर्म है उनकी अपनी परम्परा में स्थापित सदाचरण के मार्ग पर चलना और वैदिक धर्मावलम्बियों के लिए धर्म है उनकी अपनी परम्परा में स्थापित सदाचरण के मार्ग पर चलना। ये दोनों मार्ग अनेक दृष्टियों से परस्पर विरोधी हैं और टकराते हैं, तो भी इनमें कुछ तो स्पष्टता है अपने-अपने लिए। परन्तु तब उन भारतीयों का क्या होगा जिनके लिए मुकुन्द जी “पश्चिम से हावी हमारे मन” (वही पृ. 3, 4) का पद-प्रयोग कर रहे हैं। क्योंकि ‘उनके’ मन में न तो बाइबिल उनकी अपनी परम्परा है, न ही वेद या बुद्ध-वचन या

जैन-आगम। तब, उनकी दृष्टि में धर्म क्या है? वे किनके द्वारा स्थापित सदाचरण के मार्ग पर चलें? यह प्रश्न भी मुकुन्द जी ने छुआ ही नहीं। ‘पश्चिम’ जिनके मन पर हावी है उन भारतीय बौद्धिकों का सदाचरण-मार्ग कौन-सा है, शिष्ट आचरण कौन-सा है और उनका धर्म क्या है? उस धर्म का आधार क्या है? इस पर पूरी पुस्तक में कहीं चर्चा तक नहीं है। यानी इस पुस्तक के जो वास्तविक अधिकारी हैं, जिनसे इस पुस्तक का अनुबन्ध है, उन लोगों के धर्म के आधार एवं स्वरूप पर पुस्तक कोई विचार नहीं करती। उदाहरणार्थ, श्री दयाकृष्ण जैसे भारतीय चिन्तकों का धर्म क्या है? वे जिसे अपना धर्म मानें, उसके धर्म होने में प्रमाण क्या है? क्या वे स्वतः प्रमाण हैं? क्योंकि वे न तो बाइबिल की परम्परा में श्रद्धा रखते, न वेद की परम्परा में श्रद्धा रखते।

स्पष्ट है कि यह पुस्तक ‘धर्म’ और ‘धर्म-संकट’ के प्रत्ययों पर एक धीमान का काव्य-शास्त्र विनोद है। यह किसी दार्शनिक चिन्तन का फल नहीं है। आधारभूत प्रत्ययों पर पर्याप्त अवगाहन इसमें नहीं किया गया है। उन पर शास्त्र-चर्चा पूर्वक विनोद किया गया है। इसमें विशेषतः हिन्दू शास्त्रों की महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ हैं, प्रसंग हैं और कौतुकी क्रीड़ाएँ हैं। इस दृष्टि से यह पुस्तक ‘पश्चिम’ जिनके मन पर हावी है, उन भारतीयों (यूरोभारतीय) हिन्दू बौद्धिकों के लिए एक अबुझ पहेली ही सिद्ध होगी। शायद ही ऐसे बौद्धिक इसे पढ़ें या इस पर मनन करें। वस्तुतः यह पुस्तक उन धर्मनिष्ठ, सत्यनिष्ठ बौद्धिकों के लिए ही रोचक एवं उपादेय है जो भारतीय शास्त्रों, प्रत्ययों एवं पदों में श्रद्धा रखते हैं। पुस्तक में ‘धर्म’ पर उत्तम ऊहापोह है। धर्म के धारक स्वरूप को वे बारम्बार विविध पक्षों, विविध स्तरों के साथ उठाते हैं। वस्तुतः इस ऊहापोह का रस इसे पढ़ने में और मनन करने में ही है। निष्कर्षों में नहीं। इसकी रोचकता लेखक के वाग्वैदग्ध्य में है, प्रभूत मननशीलता में है और सुन्दर तर्क-संयोजन में है।

जिस जगह मुकुन्द जी सर्वाधिक फँसे दिखते हैं, वह है मोक्ष या मुक्ति की धारणा। पर यह फँसावट बहुतों की है, पुरानी है। वे इस मोक्ष या मुक्ति को वर्तमान लौकिक अर्थों वाली स्वतन्त्रता से कई जगह मिला देते हैं, जिससे हँसी आती है। मोक्ष परम धर्म इस अर्थ में है कि उसके बिना तो स्व-रूप का ज्ञान ही नहीं होता और तब धर्म में और मोह में, विवेक में और राग में भेद कैसे कर सकेंगे? परन्तु मुकुन्द जी इसका जो यह भाष्य करते हैं कि “संस्कार से, समाज से, जगत् से और धर्म के भी औचित्य चुनने के दायित्व से निर्बाध हो जाना ही वास्तविक स्वतन्त्रता है”, वह हास्यास्पद है।

यहाँ शंकराचार्य का प्रसिद्ध श्लोक स्मरणीय है

न निरोधो, न चोत्पत्तिः, न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त, इत्येषा परमार्थता।।

मोक्ष कोई स्थिति नहीं है, जिसे पाना है। मोक्ष अपने परमार्थ स्वरूप का बोध है, ज्ञान है, दर्शन है। मुक्त सिद्ध उस स्वतन्त्रता की कामना ही नहीं करेगा, जिस स्वतन्त्रता की ललक मुकुन्द जी में इतनी प्रबल है। इस तरह की 'स्वतन्त्रता' की आकांक्षा से मुक्त हो जाना मोक्ष मार्ग का पहला चरण है, प्रथम पग है। स्वातन्त्र्य की स्थिति मोक्ष नहीं है। आत्म-दर्शन, आत्मज्ञान एवं आत्म-स्थ होना, जो वस्तुतः ब्रह्म-स्थ होना, ब्रह्म से आत्म का अभेद जान लेना, देख लेना ही है, वही मोक्ष है। वहाँ 'स्व' का कोई तन्त्र नहीं बचा रहता। तन्त्र तो वहाँ परम सत्ता का, ब्रह्म का ही बचा रहता है, उसी ब्रह्म-तन्त्र का दर्शन होता रहता है। वहाँ 'स्व' का तन्त्र कहाँ! मुक्त सिद्ध 'स्वतन्त्र' नहीं होता, 'परतन्त्र' भी नहीं होता। अतः स्वतन्त्रता मोक्षधर्म का साध्य नहीं है। न ही परतन्त्रता या दासता साध्य है। मोक्ष-मार्ग केवल ज्ञान-मार्ग है, ज्ञान-स्थिति है। मोक्ष का परतन्त्र-भाव या स्वतन्त्र-भाव से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह न तो कर्म-स्थिति है, न निष्कर्म-स्थिति। वह तो आत्मज्ञान है, ब्रह्म ज्ञान है। ब्रह्म स्थिति है, आत्म-स्थिति है। जिस स्वतन्त्रता की बात मुकुन्द जी कह रहे हैं वह धर्म किस परम्परा का चरम साध्य है या आदर्श है? उसका दृष्टान्त क्या है? वे कौन व्यक्ति हुए हैं, जो मुकुन्द जी के अभिप्रेत अर्थ में स्वतन्त्र थे? धर्म-विहीन या धर्म-शून्य थे? याकि कर्म-शून्य ही थे?

मुकुन्द जी कहते हैं, "हमारे स्वतन्त्र होने का अर्थ ही है साध्य का अनेकान्त होना" (पृ. 12)। तो क्या मुक्त व्यक्तियों के साध्य अनेक थे, विविध थे? यदि हाँ, तो मोक्ष और धर्म में अन्तर कहाँ रहा? तब मोक्ष परम धर्म कैसे हुआ? सामान्य धर्म क्यों नहीं? ओर वह निवृत्ति कैसे हुआ? साध्य का अनेकान्त होना तो प्रवृत्ति में ही सम्भव है। मोक्ष-स्थिति में साध्यशून्यता की स्थिति है, कृतार्थता की स्थिति है। वहाँ कुछ भी करणीय या साध्य कहाँ? कैसा? मुकुन्द जी ने अन्यत्र स्वयं स्पष्ट किया है कि "आत्मस्थ होने की परमार्थ-गति में व्यवहार का प्रश्न ही नहीं उठता" (पृ. 33)। अतः वहाँ स्वतन्त्र होने या परतन्त्र होने का भी कोई प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि स्वतन्त्रता तो व्यवहार-जगत की वस्तुएँ या स्थितियाँ हैं। जो भिन्न-भिन्न साध्यों के लिए स्वतन्त्र है, वह संकल्पवान है, कर्मरत है, मुक्त नहीं।

सामान्य धर्म या साधारण धर्म की विवेचना मुकुन्द जी ने बहुत अल्प की है पर सुन्दर की है। साधारण धर्मों की विविध तालिकाओं में अहिंसा, सत्य, दया, दान आदि सर्व-सामान्य धर्म हैं, जो आचरण की कसौटी के रूप में रखे गए हैं। इन्हीं धर्मों में शिष्ट होना सच्ची शिष्टता का सार्वजनीन धर्म है। इससे आगे, मुकुन्द जी बार-बार एक 'धर्म-संकट' का प्रसंग उठाते हैं जो उनके अनुसार जीवन में उतर जाता संकट है। (पृ. 34), तोड़ देने वाला संकट है (पृ. 35), एक कांटा है जो धर्म-चेतना से निकलता नहीं है (वही पृ. 35)। वे कहते हैं कि "बुद्धि तो उलझनों में ही पलती है, ऐसे विरोधों को पचा भी लेती है, बुद्धि के लिए विरोध में किसी-न-किसी समन्वय का

मार्ग खुला रहता है, समन्वय न भी सम्भव हो तो भी ऐसा मोड़ नहीं आता कि जो भी दिशा लें, सत्य की हानि होगी ही, जबकि धर्म-संकट में धर्म-च्युति से बच निकलना असम्भव लगता है (पृ. 34-35)। यहाँ मुकुन्द जी एक अबूझ पहेली की सृष्टि करते हैं। एक तो यह प्रश्न उठता है कि 'धर्म-संकट' की प्रतीति (या बोध) यदि बुद्धि को नहीं होती तो किसे होती है? मन को? अहं-भाव को? या किसे? 'तोड़ देने वाला' आदि भाषा के प्रयोग से तो अनुमान होता है कि यह मन का संकट है। मन की उलझन है। यदि यह स्पष्ट होता तो फिर 'मन' के स्वरूप पर, कार्य पर, व्यवहार पर, स्वभाव या प्रकृति पर चर्चा होती जो कि पुस्तक में नहीं है। तब यह 'धर्म-संकट' किसे होता है? आत्मा को तो होता नहीं।

फिर, ऐसे तोड़ देने वाले 'धर्म-संकट' किनके जीवन में कब-कब उपस्थिति होते हैं? क्या यह एक सामान्य नियम है? या अपवाद-स्थिति है? और 'धर्म-संकट उत्पन्न होने पर, "धर्म का कोई-सा द्वार हम चुनें, श्रेयस् कीधर्म के सत्य कीहानि होगी ही," यह किस आधार पर मुकुन्द जी कह रहे हैं? वस्तुतः समस्त धर्म-संकट बौद्धिक ऊहापोह और अनिश्चय की दशा मात्र हैं। उसमें स्वयं 'धर्म' पर कोई संकट नहीं आता। धर्म के सत्य की कोई हानि नहीं होती। अर्जुन या पाण्डव युद्ध न करते तो स्वयं उनके राजधर्म की, सदाचरण की हानि होती, वे हानि नहीं होती। आप यह कह सकते हैं कि एक व्यक्ति एक साथ (एक ही समय में) भिन्न-भिन्न परम धर्मों की साधना (या व्यवहार) नहीं कर सकता। यह व्यक्ति-मात्र की सीमा है, मर्यादा है। इसमें जी तोड़ने की कोई बात नहीं है। व्यक्ति व्यक्ति-रूप में ईश्वर हो जाने की अभीप्सा ही क्यों करे? "जीव कि ईश समान"? अतः वह व्यक्ति की मर्यादा की बात है। किसी सत्य की हानि की बात नहीं है।

अर्जुन या पाण्डव युद्ध न करते तो स्वयं उनके राजधर्म की, सदाचरण की हानि होती। 'धर्म' नामक किसी वस्तुसत्ता की, सृष्टि के छन्द की, सत्य और ऋत की, उससे कोई हानि नहीं होती। वे भिन्न-भिन्न, नए-नए रूपों में प्रकट होते, अभिव्यक्ति पाते, गतिवान रहते। सृष्टि में किसी धर्म के सत्य की या श्रेयस्-की हानि नहीं होती, स्वयं पाण्डव अवश्य श्रेयस्-से च्युत रहते, च्युत रह जाते। कौरवों से युद्ध न करना प्रेयस् को चुनना था, आनृशंस्य को नहीं।

जहाँ तक अर्जुन या पाण्डवों के धर्म-संकट की बात है, वे युद्ध को लेकर धर्म-संकट में नहीं हैं, बन्धु-बान्धवों के साथ युद्ध को लेकर धर्म-संकट में हैं। तर्क यह है कि युद्ध नहीं करेंगे तो भी यह राज्य कुरुवंश के हाथों में तो रहेगा ही, हम नहीं इसे भोगेंगे तो हमारे बन्धु भोगेंगे। राज्य रहेगा, राज्यसुख रहेगा, केवल उसके भोक्ता हम न होकर हमारे बन्धु रहेंगे। तो क्या हम सुख-भोग के लिए युद्ध कर रहे हैं? यह है धर्म-संकट का वहाँ स्वरूप। युद्ध मात्र को लेकर कोई शंका वहाँ नहीं है। पहले और बाद में, बारम्बार युद्ध में सहर्ष भाग लिया है अर्जुन ने, युधिष्ठिर ने और पाण्डवों ने।

कभी स्वयं कौरवों की रक्षा के लिए, कभी अपने आश्रयदाता राजा की रक्षा के लिए। उससे पूर्व, भीष्म ने अनेक युद्ध किए थे। राज्य-विस्तार के लिए। वहाँ तो युद्ध को लेकर कोई शंका नहीं उठी। जहाँ तक संजय की बात है, वह कोई विदुर या कृष्ण या युधिष्ठिर नहीं है। उसे भी युद्ध से विरोध नहीं है। उसने कभी दुर्योधन के समक्ष युद्ध के विरुद्ध वे तर्क नहीं रखे। अतः वह अपने पालक राजा की रक्षा के लिए युधिष्ठिर को युद्ध से विरत करने की कामना से तर्क रख रहा है। वास्तविक धर्म-चेतना से उसकी इन बातों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

मुकुन्द जी का समस्त युद्ध-विरोध समकालीन यूरोक्रिश्चियन देशों में उठे शान्तिवाद और युद्ध-विरोध से जुड़ा है, न कि किसी सार्वभौम मानवीय या आध्यात्मिक समस्या से। परन्तु ये यूरोक्रिश्चियन देश तो स्वभावतः युयुत्सु हैं। युद्ध उनका स्वभाव है। युद्ध ही उनका इतिहास है। 'नो-वार' की चिन्ताएँ कुछ तो युद्ध के विनाश की स्मृति से उपजे भय से उत्पन्न हैं; कुछ राजनैतिक चातुर्य का, अन्तर्राष्ट्रीय प्रबुद्ध मानस में अपने शान्तिवादी होने का प्रभाव छोड़ने की राजनीति का, हिस्सा हैं। समय आने पर पलक झपकते ही, सारा युद्ध-विरोध फेंक कर, वे युद्ध के अपने स्वभाव पर आ जाते हैं। किसी धर्म-चिन्ता या धर्म-संकट से सम्बन्धित नहीं है यूरोक्रिश्चियन समाजों का शान्तिवाद या युद्ध-विरोध। यदि वैसा होता तो सर्वप्रथम वे अपने विकराल भोगों का त्याग कर, उन देशों और समाजों की व्यापक क्षतिपूर्ति की पहल करते जिनके धन और संसाधनों का इकतरफा हस्तान्तरण विगत एक सौ वर्षों से वे करते रहे हैं। यदि उनका युद्ध-विरोध किसी धर्म-चेतना से उत्पन्न होता तो सर्वप्रथम इंग्लैण्ड साम्राज्यवादी लूट के पाप के प्रायश्चित्त के लिए भारत को करोड़ों पौण्ड की क्षतिपूर्ति करता और इस प्रकार की माँग अंग्रेज समाज में वर्षों पूर्व उठी होती। जिन्हें वे 'दूसरा' समझते हैं, उनके विरुद्ध निरन्तर किसी-न-किसी प्रकार के युद्ध में प्रवृत्त रहना उनका स्वभाव है। उनके युद्ध-विरोध को ऐसी नमनीयता से, ऐसे भोलेपन से ग्रहण कर मुकुन्द जी वहाँ धर्म-संकट की स्थिति की कल्पना कर रहे हैं, इस पर क्या कहा जाए!

पर धर्मों के रूप में आनृशंस्य, अहिंसा, सत्य, ऋत, धर्मयुद्ध, अवध, प्रभव और सृष्टि यज्ञ या जीवन यज्ञ के मध्य परस्पर विरोधों की रचना का एक बड़ा ठाट बड़े जतन और परिश्रम से मुकुन्द जी ने रचा है। बौद्धिक क्रीड़ा दृष्टि से यह ठाट रोचक है। शिक्षाप्रद भी, रसप्रद भी। किसी वास्तविक दार्शनिक चिन्ता या धर्मचिन्तन से इस ठाट का कोई सम्बन्ध नहीं है। मुकुन्द जी एक विद्वान, रससिद्ध कुशल कथाकार हैं, कथावाचक हैं। उनकी कही कथा में रस बहुत है।

'हमारा मनुष्य-भाव : कथा और रस' अध्याय इसीलिए सर्वाधिक रोचक बन पड़ा है। धर्म-अर्थ-काम पुरुषार्थों की त्रिपुटी की उनकी विवेचना रसमय है, प्रभावशाली है। वे सुन्दर ढंग से कहते हैं—“लोक को ही श्रेयस्मय करने की साधना, यह धर्मकामना का सही अर्थ बनता है” (पृ. 43)।

बौद्धिक क्रीड़ा में भले ही वे अविरोध में विरोध की कौतुकी सृष्टि करते चलते हैं, पर धर्म-तत्त्व की मूल दृष्टि का मर्म उन्हें खूब पता है। शास्त्रों का अवगाहन भी उनका गहरा है। इसीलिए वे गीता के 'निष्काम कर्म' का मर्म सुन्दर ढंग से रख पाए हैं—“निष्काम कर्म में फल का निषेध नहीं, फल में ममत्व का निषेध है” (पृ. 83)।

इसी प्रकार के मर्म-उद्घाटक वाक्य पुस्तक में भरे पड़े हैं

धर्म एक प्रज्ञा है, जिसका मर्म अगर सीखा जा सकता है तो प्रज्ञाशील वृद्धों से, जिन्होंने इसे प्रयोग में साधा है (पृ. 77)।

कृष्ण के लिए अर्जुन का धर्म-संकट सचमुच का धर्म-संकट नहीं। मन की झूठी गाँठ है। तुच्छ है। ...कृष्ण के लिए अर्जुन का जो संकट था, भाव-संकट था, धर्म-संकट नहीं (पृ. 79-80)

धर्म-संकट एक बोध है जो कर्मशील को होता है (पृ. 80)।

धर्म को धर्म के लिए ही करना चाहिए। किसी और फल के लिए नहीं। धर्म निष्कारण करना चाहिए। कर्तव्य समझकर करना चाहिए। किसी और कारण से नहीं (पृ. 80)।

कृष्ण की धर्म-प्रज्ञा में यह धर्म-कामना है कि कर्म का अवसान स्वस्ति हो, कर्म सफल हो, सुफल हो। उनके लिए धर्म वह है जो अहिंसा-गर्भ अभ्युदय या आनृशंस्य, प्राणियों का प्रभव साधता है। पूरी परिस्थिति को देखकर, उसे तोलता हुआ, उससे अमंगल हटाकर उसे और मंगलमय बनाना चाहता है। ...मंगल में श्रेयस् और प्रेयस्दोनों के निखार का भाव है धर्म और काम दोनों का स्वस्ति-संगम” (पृ. 86)।

ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द है और चित् वासना-स्वरूप है, जिससे सत् और आनन्द युगनद्ध हैं। (पृ. 61)

रस-बोध उसी को होता है, जिसमें 'वासना' हो। ...जिसे हम आत्म या अहं कहते हैं, उसका भी मूल वासना ही है (पृ. 60)।

आर्त को और ज्ञान के पुरुषार्थों को (ब्राह्मण का यही उचित अर्थ है) दान, प्रजा की रक्षा अर्थात् पालन और संरक्षण और साथ में न्याय, आततायी को दण्ड्ये व्यवस्था के ही आदर्श हैं और आनृशंस्य-प्रेरित कहला सकते हैं (पृ. 167)।

अगर रक्षा करना राजा का धर्म है तो 'परिपन्थी' से, 'आततायी' से युद्ध करना रक्षा के अर्थ के अन्तर्गत ही है। 'आततायी' बाहर का ही नहीं, भीतर काराज्य के भीतर कारपरिपन्थी भी हो सकता है। कोई भी हो सकता है जो धर्म के पथ का परिपन्थी हो, जो धर्म के सत्य का जानबूझकर भंग करे। जिनको 'ऋषि' या 'मुनि' की संज्ञा दी जाती है, वे भी आततायी हो सकते हैं। (हरिश्चन्द्र के प्रसंग में) विश्वामित्र की ही बात लीजिए। दूसरों की भी कथा आती है (पृ. 168)।

आनुशंस्य अगर व्यवस्था का आधार हो तो प्रजा का क्षेम और उस क्षेम की रक्षा भी धर्म की परिधि में आनी चाहिए। आनुशंस्य का प्रभव-पक्ष कह सकते हैं। ऐसा हो तो 'कंटक-शोधन' भी आनुशंस्य की परिधि में आएगा ही। समाज-कंटकों को दूर करना क्षेम-रक्षा का अनिवार्य अंग बनता है। परिपन्थी से युद्ध भी आवश्यक होगा, क्योंकि बात व्यक्ति के शील की नहीं, समष्टि की सुरक्षा की है (वही पृ. 168)।

न्याय राजधर्म का सार है और राजधर्म के बिना दूसरे धर्मों का भी 'धारण' नहीं होता। ...दूसरे धर्म, मनुष्य की सभी साधनाएँ, राजधर्म पर और न्यायकर्ता राजा पर टिकी हैं (पृ. 175-176)।

न्याय समष्टि-प्राण होता है और समष्टि-साध्य। समष्टि का धारक राष्ट्र होता है। न्याय की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि एक-न्याय-व्यवस्था एक-राष्ट्रमय होती है। ...पर राष्ट्र एक नहीं, अनेक होते हैं और विडम्बना यह है कि राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्ध के सूत्र धर्ममय होते ही नहीं हैनीतिमय होते हैं। दान, दण्ड, भेद, इनके सहारे चलते हैं। उनमें किसी परस्पर भाव की और सार्थक न्याय की बात ही नहीं उठती है। उठती भी है तो बात ही उठती है। उसके आचरण का सार तो छछ ही रह जाता है (पृ. 180)।

प्रभव की साधना में भी प्रस्थान-भेद उभरेंगे ही। अभी पिछले सौ सालों के भीतर ही अकेले पश्चिम की सभ्यता में ही इसको लेकर कई 'वाद' उठ चुके हैं। कम्यूनिज्म, फासिज्म, कैपिटलिज्म और उचित व्यवस्था की साधना के नाम पर हिंसा का प्रकाण्ड ताण्डव होता ही रहा है। और यह सब 'धर्म निरपेक्ष' हुआ हैयानी 'रिलिजन' हिंसा के इस ताण्डव के लिए दोषी नहीं था। ये (हिंसक ताण्डव) सेक्यूलर शक्ति के ही कर्म रहे हैं। उन्हीं का धर्म-निरपेक्ष दुश्चक्र प्रवर्तन रहा है (पृ. 182)।

पूरी पुस्तक रोचक, पठनीय, मननीय और विमर्श योग्य है। आशा है, भारतीय मन वाले प्रबुद्ध जन इस पुस्तक को आवश्यक विमर्श के योग्य पाएँगे।

पुस्तक-वर्चा

एक बौद्धिक का वानप्रस्थ

पुष्पपाल सिंह*

वृद्धावस्था हिन्दी कथा साहित्य का एक प्रमुख कथ्य बना रहा है। यशपाल (समय) तथा नई कहानी के समय ('वापसी', उषा-प्रियंवदा) से लेकर इस पर बहुत-सी सशक्त कहानियाँ अब तक प्रकाशित हुई हैं। किन्तु इधर आए उपन्यासों में इसी कथा भूमि पर दो बहुत ही सशक्त उपन्यास आए हैं। कुछ समय पहले चित्रा मुद्गल का 'गिलिगडु' (2002) तथा सद्यः प्रकाशित रमेशचन्द्र शाह का 'सफेद परदे पर' (2006)। बात फिलहाल रमेशचन्द्र शाह की इसी कृति की। रमेशचन्द्र शाह एक सिद्धहस्त कथाकार हैं 'गोबर गणेश', 'किस्सा गुलाम', 'पूर्वापर', 'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू', आदि उनके चर्चित उपन्यास हैं। इसी कड़ी में उनका वानप्रस्थ जीवन को लेकर लिखा गया उपन्यास 'सफेद परदे पर' आया है। वृद्धावस्था में तरह-तरह की जो समस्याएँ शारीरिक सामर्थ्य के शेष होते चले जाने, एकाकीपन, पत्नी के अपने से पहले दिवंगत हो जाने पर एकाकीपन का और बढ़ता दंश, आदिजो मनुष्य को प्रायः ही घेरे रहती हैं, उनसे तो यह उपन्यास सीधे-सीधे टकराता ही है, उसकी बहुत बड़ी उपलब्धि यह है कि यह एक बौद्धिक की व्यथा-कथा अपने ही ढंग से बहुत खिलदड़ अंदाज में कहता है। भाषा शैली की बेबाकी और कथ्य के बयान की बेनियाजी इस कृति को गजब की पठनीयता देती है। आज जब-जब मोटे-मोटे 'महा-उपन्यास' (इस समस्या को मैंने आज 14-5-06 के 'जनसत्ता' में भी उठाया है) लिखने का प्रचलन हिन्दी में बढ़ा है, तब ये लघु आकारीय उपन्यास पाठक को एक राहत-सी देते हुए अपने कथा इस में डुबोते हैं।

उपन्यास 'सफेद परदे पर' वृद्धावस्था की जिस समस्या को उठाता है, वह भारतीय समाज में निरन्तर बढ़ती जा रही एक विकट समस्या बनती जा रही है। भारत जैसे विकासशील देशों में और संसार के अन्य देशों में भी वृद्धों की बढ़ती

+ पुस्तक : उपन्याससफेद परदे पररमेशचन्द्र शाह, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली-2, मूल्यएक सौ बीस रुपये।

* डॉ. पुष्पपाल सिंह, डी. फिल. डी.लिट., पूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला।

आबादी और संयुक्त परिवार के ढाँचे का चरमरा जाना इस समस्या को और भी बढ़ा रहे हैं। समाजशास्त्र के विद्वानों ने अपने अध्ययनों के आँकड़े देते हुए बताया है कि आगामी पच्चीस वर्षों में (2001 से 2025 ई. के बीच) साधारण जनसंख्या में 46.25 प्रतिशत वृद्धि का अनुमान है, जबकि वृद्धों की आबादी 133.6 प्रतिशत बढ़ सकती है। वृद्धावस्था की इन समस्याओं पर हिन्दी कथाकारों ने विभिन्न रूपों में लिखा है। प्रस्तुत कृति एक बौद्धिक कथा-नायक के माध्यम से उस समस्या को उठाती है, जब भरे-पूरे परिवार के रहते हुए भी कोई उससे अलग, किसी वृद्ध आश्रम नहीं अपितु अपने ही फ्लैट में बेटा-बहू पोते से अलग जा कर रहने लगता है। यँ तो उपन्यास-विधा को बहुत हद तक आत्मवृत्तांती प्रवृत्ति का माना जाता है किन्तु इस उपन्यास में यह प्रवृत्ति बहुत मुखर रूप में देखी जा सकती है। उपन्यास का प्रारम्भ ही 'मैं' की शैली में होता है, साथ ही रमेशचंद्र शाह का साहित्यिक व्यक्तित्व जगह-जगह पर स्पष्टतः देखा जा सकता है। उनको बहुत नजदीक से न जानने वाले पाठक भी, उनके व्यक्तित्व के अनेक पक्षों से परिचित होते चले जाते हैं। उपन्यास का कथानायक 'मैं' भी एक लेखक है जो उम्र के वानप्रस्थी पड़ाव पर बेटे-बहू के परिवार से अलग रहने के लिए अपने ही खाली फ्लैट में रहने आ जाता है। वह एक ओर तो सांसारिक मायाजाल को काटकर एकांतवास का सुख भोगने आया है, दूसरी ओर वह दूसरी तरह से तरह-तरह के लोगों का सान्निध्य चाहता है। पैंसठ वर्षीय जिन्दगी को भोग चुका लेखक अलग रहने तो आ जाता है किन्तु वह अपने बेटे-बहू के विषय में नहीं सोच पाता कि उनके इस प्रकार चले आने से उन्हें क्या-क्या सामाजिक प्रताड़ना सहन करनी पड़ेगी। प्रकारांतर से उपन्यासकार उस समस्या की ओर भी संकेत कर देता है कि वृद्ध-आश्रमों में बुजुर्गों के चले जाने पर उनके पीछे छूटे पारिवारिकों को क्या-क्या सुनना पड़ता है।

प्रस्तुत उपन्यास का एक बहुत सशक्त पक्ष यह है कि यह बहुत ईमानदारी से दाम्पत्य-सम्बन्धों का सूक्ष्म निरीक्षण करता है। दाम्पत्य की चख-चख के चलते आदमी उससे निजात पाना चाहता है किन्तु जब पत्नी पति से पहले चली जाती है तो वही रात-दिन चख-चख मचाने वाली कितनी-कितनी मूल्यवान हो उठती है, उसकी संवेदनात्मक प्रतीति लेखक बड़े सशक्त रूप में दे सका है। इस वर्णन की खूबी यह है कि यदि लेखक पत्नी के अभावों की ओर देखता है तो उस सम्बन्ध में अपने को भी नहीं बखशाता, तू ही जिम्मेदार है मेरी इस दुर्दशा के लिए जाहवी। इती जल्दी क्या थी तुझे? अरे, लड़ते झगड़ते भी जब हमने तीस बरस काट ही दिए थे तो पाँच-दस बरस और काट लेते। कोई दिन ऐसा नहीं जाता जबसे तू गई जब कोई न कोई चीज, कोई न कोई घटना मुझे तेरी याद दिला देती। मन ही मन-देखती नहीं तू अब भी झगड़ता हूँ तुझसे। बिला वजह आपसे आप चलती रहती है एक अंतहीन जिरह, जिसका कोई फ़ैसला नहीं। ××××× पर खुद ही ज्यादा बोलता हूँ। पर क्या फ़ायदा। तू कैसे सुनेगी

मेरी धारावाहिक बकवास। तू तो सारे झंझटों से हाथ झाड़कर चल दी और मुझे अकेले मरने को छोड़ गई अपने बेटे-बहू के पास। शिकायतें मेरी सब तेरे साथ ही विदा हो गईं। शिकायतें जो थीं, वो सबकी सब तुझी से थीं या फिर तुझी से की जा सकती थीं। अब किससे करूँ शिकायत? आदत तो आदत है। तुझ पर खीझने-झल्लाने के लिए तेरा सामने होना क्यों जरूरी है। दाम्पत्य का यह शाश्वत और सार्वभौम सत्य लेखक ने बहुत मार्मिकता से व्यक्त किया है।

बौद्धिक के इस वानप्रस्थ में जगह-जगह समाज की समस्याओं यथा एन.जी. ओ. संस्थाओं के निहित स्वार्थ, साहित्य और साहित्यकारों-दोस्तोएवस्की, चेखव, आदि अरविंद जैसे दार्शनिकों, योग के विभिन्न रूपों आदि पर भी लेखकीय चिन्तन और विमर्श के दर्शन होते हैं। इन सब में सार्वधिक महत्त्वपूर्ण और मार्मिक अंश है बेटी ममता का अपने पिता 'पापई'को लिखा पत्र जिसमें उनके अलग रहने के सारे तर्कों को बड़े तार्किक रूप में धराशायी कर पापा को 'घर' में लौटने को बाध्य किया गया है, बेटी के प्रेमांकुश द्वारा। इस पल की और बड़ी विशेषता यह है कि यह आत्मकथात्मक संस्पर्श उपन्यास को देता है, उपन्यास में आत्मकथा की आवाजाही होती है। पुत्री के माध्यम से लेखक 'स्व' को अभिव्यक्ति देता है किन्तु पूर्ण तटस्थ भाव से अपने गुण-दोष विवेचन करता हुआ, एक उदाहरण द्रष्टव्य है "संकल्प और उत्साह की आप में कब कोई कमी रही? वे बस टिकाऊ साबित नहीं होते इतना ही न?" अपनी तुनकमिजाजी को भी नहीं बखशाता वह। अंत में सारे हथियार डालता हुआ कथा नायक अपनी बेटी के घर फिलहाल चला जाता है, 'वानप्रस्थ' से पुनः 'गृहस्थ' में लौटने की इस कथा का यही सुखद अंत है।

इतने उम्दा उपन्यास की कथा-संरचना में एक झोल भी है। उपन्यास का दो-तिहाई से अधिक का अंश (पृ. 94 तक) 'मैं' आत्मकथात्मक शैली में ही बुना गया है किन्तु बेटी के पत्र के बाद वह अपने 'स्व' से अलग हो कर एक तटस्थ रूप में हर जगह 'कथा-नायक' का प्रयोग करता है, लगता है कि शैली में जो आत्मीयता थी, उसमें एक बेगानापन-सा आ गया। कुछ जगह 'मैं' का प्रयोग भी है किन्तु अधिकांशतः कथा-नायक कह कर एक दूरी-सी बरती गई है। विवेच्य उपन्यास की भाषा का एक बड़ा सबल पक्ष उसकी लोकधर्मी गंध है। भाषा पर पूरी पकड़, उसका सहज-तरल प्रवाह, बयानी का ढंगयह सब तो बाँधता ही है किन्तु जब वह जनभाषा के प्रयोगक्रियाओं, विशेषणों, आदि के रूप में करता है तो भाषा का मार्दव मोहता है, कुछ प्रयोग

“बाबू जी पूजा में बैठे हैं” कहके कौन **टिरी करता था।**”

“तुम तो सारी **ओल-टोल** मुझी पर डाल देना।”

“ये लोग उसी को **पिखुवा रहे** हैं।”

“श्मशान के इतना करीब रहने के विचार से ही **बिदक जाते रहे** होंगे।”

“...मुझे कुछ अजीब ही तरीके से खलबला दिया है।”

“भनक तो पड़ ही गई होगी उन्हें।”

“मुझे एक-एक की पोल-पट्टी मालूम है।” आदि।

लोकधर्मी प्रयोगों के अलावा भी भाषा का सशक्त रचाव हिन्दी गद्य की समृद्धि में अपना योग अपने ढंग से देता है, केवल दो उदाहरण :

“दुनिया सचमुच मीडियाकरों से ही नहीं, हर (शायद ‘हद’ होगा यहमुद्रण-भूल) दर्जे के नकलची और छाया जीवी अहम्मन्नों से ही पटी हुई है।”

“मैंने किसी स्त्री के परिचय होने के अगले दिन से ही सीधे अपने मन के सहज उन्मेष से भाभी कहना शुरू कर दिया हो।”

चलते-चलते, बहुत छोटी किन्तु बहुत महत्वपूर्ण शिकायत इतनी समर्थ भाषा के स्वामी और हिन्दी के वरिष्ठ प्रतिष्ठित साहित्यकार से मेरी है : बहुत देर से मैं अपनी टिप्पणियों-समीक्षाओं में यह प्रश्न उठाता रहा हूँ कि हिन्दी में इधर के वर्षों में ‘यह’ और ‘ये’ के प्रयोग को लेकर निरन्तर असावधानी की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है या कहीं संक्रामक रोग का रूप ले रही है। पात्रों के संवादों में स्वाभाविकता लाने के लिए ‘यह’ के स्थान पर ‘ये’ का प्रयोग स्वीकार्य हो सकता है किन्तु अनेक लेखक अपने विवेचन और लेखकीय अभिव्यक्ति में भी बिना एकवचन-बहुवचन का विचार किए ‘यह’ के स्थान पर ‘ये’ का प्रयोग कर रहे हैं। केवल और केवल ‘ये’ का प्रयोग कर रहे हैं। प्रस्तुत उपन्यास भी इस ओर से उसी तरह ‘बेपरवाह’ रहा है, यथा “अब ये बेटी की फटकार ऊपर से” (पृ. 90), ‘आज ये क्या ही गया’, ‘ये हो क्या रहा है’ (पृ. 109) हो सकता है कुछ जगह यह मुद्रण की भी मूल हो किन्तु हिन्दी में यह प्रवृत्ति अब बढ़ती जा रही है। इस न्यूनता के होते हुए भी कृति की पठनीयता कहीं भी बाधित नहीं होती। यह एक स्मरणीय उपन्यास है।

पाकिस्तानी उर्दू कथा-साहित्य में भारतीय देवी-देवता

रहमान मुसव्विर*

साहित्य अपने समाज और संस्कृति से गहराई के साथ संपृक्त होता है। साहित्य संस्कृति का एक अंग ही नहीं अपितु उसका प्रत्यक्ष रूप भी है तथा संस्कृति के निरन्तर विकास के लिए अन्य तत्त्वों से संबद्ध होकर महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। अतः जब भी किसी देश के साहित्य पर चर्चा होती है, संस्कृति की समस्या स्वयं ही विमर्श के मध्य आ जाती है। नवीन राष्ट्र के अभ्युदय के पश्चात यह मुद्दा और भी व्यापकता एवं गहराई के साथ उभरता है।

पाकिस्तान के उदय के साथ ही नई संस्कृति की पहचान के संकट और जड़ों से जुड़े रहने के स्वाभाविक आग्रह ने वहाँ के उर्दू साहित्य को नए तरह के तेवर दिए, जिनमें छटपटाहट है, बेचैनी है, तलाश है। यह छटपटाहट, बेचैनी और तलाश वहाँ के कथाकारों को बार-बार भारतीयता की ओर ले जाते हैं। भावों की अभिव्यक्ति के लिए जहाँ प्रतीको, बिम्बों एवं उपमानों की खोज हुई, वहीं भारतीय मिथकों का प्रयोग भी नवीन सदंर्भों में किया गया। मिथक अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम रहे हैं तथा मिथक और साहित्य में अटूट संबंध है। पाकिस्तानी उर्दू कथाकारों ने कभी सतही तौर पर तो कभी गहराई से भारतीय मिथकों का प्रयोग किया है। भारतीय देवी-देवता पाकिस्तानी उर्दू कहानियों एवं उपन्यासों में उत्कृष्ट कलात्मकता के साथ प्रयुक्त हुए हैं।

भारतीय मिथक परम्परा में त्रिदेव की परिकल्पना को विशेष स्थान एवं महत्व प्राप्त है। ये ब्रह्म, विष्णु, महेश के नाम से प्रसिद्ध हैं। तीनों देवों के साथ शक्ति स्वरूपा नारी का अंकन भी मिलता है। सरस्वती, लक्ष्मी और गौरी क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश को प्राप्त हैं। इनके अतिरिक्त असंख्य देवी देवता हैं जिन के अधिपति इन्द्र हैं। भारतीय मिथक साहित्य के अनुसार देवताओं की उत्पत्ति अदिति से हुई है। सभी देवता कश्यप की संतान हैं। पाकिस्तानी कथा साहित्य में देवताओं की उत्पत्ति के विषय में अनेक रोचक प्रसंग आते हैं। जाहिदा हिना की कहानी ‘राना सलीम सिंह’

* डॉ. रहमान मुसव्विर 32 टीचर्स हॉस्टल, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली 25, 9871610200

में देवताओं की उत्पत्ति जल से बताई गई है“ **सबसे पहले सिर्फ पानी था। उस पानी ने सच को, सच ने ब्रह्मा को ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति ने देवताओं को पैदा किया और देवता सच की पूजा करते हैं।**”

ब्रह्मा ही सृष्टि निर्माता है, इसकी स्वीकृति के संकेत इतिहास हुसैन के उपन्यास ‘बसती’ में मिलते हैं। पृथ्वी की रचना के उपरांत उसके स्थिर रखने की समस्या उत्पन्न हुई। ब्रह्मा ने इसका उपाय इस प्रकार निकाला

“बालको! ब्रह्मा जी ने ये देखा तो शेष से कहा कि देख शेष! धरती इस समय अधिक डावांडोल है। तू वा की सहायता कर। शेष बोला-महाराज, वा को उठा के मोके फन पे रख दो। फिर वो टिक जावेगी। ब्रह्मा बोले कि शेष तू धरती के भीतर चला जा...”

पाकिस्तानी उर्दू कथाकार भारतीय देवी-देवताओं से इतने अधिक प्रभावित हैं कि उनकी कहानियों के पात्र स्वयं को ही भगवान और देवता मानने लगते हैं। जमीला हाशमी की कहानी ‘महादेव’ का प्रसंग द्रष्टव्य है

“...महाराज! ये मेरा बेटा पागल है। सारा दिन चट्टानों पर घूमता बांसुरी बजाता रहता है और कहता हैमैं श्याम सुन्दर हूँ, मैं ब्रह्मा हूँ।”

पाकिस्तानी उर्दू कथाकारों ने पौराणिक कथाओं से सामग्री लेकर उसमें अपनी मौलिक कल्पना को इस प्रकार घुला मिला दिया है कि सम्पूर्ण कहानी किसी पौराणिक कथा का अंग लगती है। अबुलफत्तल सिद्दीकी की कहानी ‘यज्जं व कम्द आवर’ इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय मिथक परम्परा के अनुसार विपत्ति के समय देवाधिपति इन्द्र सहित समस्त देवी-देवता देवत्रय की शरण में जाकर सहायता की गुहार करते हैं। किन्तु इस कहानी में तपस्यारत राजा भीमकंवर के तप से चिंतित इंद्र सहायता प्राप्त के निर्मित ब्रह्मा, विष्णु अथवा महेश की शरण में नहीं जाता अपितु उन्हें आदेश देता है

“...और इन्द्र महाराज ने बड़ी मिठास के साथ आवाज दीविष्णु जी! देखो जरा। धरती की खबर लो। तुम्हारा एक खाकी पुतला बहक रहा है। उसकी रफ्तार सही करो और विष्णु ने एक जरा निगाह डाली कि राजा के रोगटे-रोगटे पर बहार आ गई।”

कुरतुल ऐन हैदर कृत उपन्यास ‘आग का दरिया’ में पार्वती का उल्लेख है

“...पारवती उसके साथ-साथ नाचती आ रही है। ब्रह्मा की बीवी सरस्वती ने अपनी बत्ख पर से झुककर उसके कान में कहाइल्म तेरा है।”

उल्लेखनीय है कि सरस्वती ज्ञान की देवी है। बिना सरस्वती की कृपा के कोई भी व्यक्ति ज्ञान में निपुण नहीं हो सकता है। सरस्वती की कृपा से मूर्ख भी विद्वान बन जाता है। डॉ. उषा पुरी विद्यावाचस्पति द्वारा संपादित भारतीय मिथक कोश के

अनुसार पर पुरुष से संबंध रखने के कारण ब्रह्मा ने सरस्वती को महा नदी होने का शाप दे दिया था; अतः सरस्वती नदी के रूप में मृत्युलोक में प्रवाहित होने लगी। इस कारण सरस्वती नदी को देवी का स्थान प्राप्त है और वह पूजनीया है। पाकिस्तानी कथाकार मुस्तंसर हुसैन तारड कृत उपन्यास ‘बहाव’ में पूरे इस बात पर जोर देता है कि नदी सरस्वती देवी है

“पहाड़ों से लेकर समन्दरों तक उसका रास्ता पवित्र है और नदियों में सिर्फ सुरसती है जो हमारी बात सुनती है। उसमें दूसरी तमाम नदियों से बढ़कर शानदार बड़े पानी आते हैं जैसे रथ पर सवार हों।

हाँ वो सब नदियों से प्यारी नदी है। सात बहनों वाली...सुरसती...तुम सारी दुनिया पर छाई हुई हो...हमें नफरत से बचाना।”

इन्द्र महाराज सदैव रास रंग में डूबे रहने वाले देव हैं। जब जी में आता है किसी भी अप्सरा के साथ भोग करते हैं। इन्द्र को भोग विलास और ऐश्वर्य का प्रतीक माना जाता है। बानो कुदसिया अपने उपन्यास ‘राजा गिद्ध’ में इस प्रतीक का प्रयोग करती हैं

“जो शर्खा सिर्फ नजर बाज है और उचटती नजर से लड़कियों को अंकता है, वो उन मर्दों को बदमाश समझता है जो लड़कियों की महफिल में राजा इन्द्र बनकर बैठते हैं।”

लेखिका को इन्द्र के मिथक के अतिरिक्त कोई अन्य माध्यम इस पुरुष मानसिकता को व्यक्त करने में इतना सशक्त नहीं लगता। संगीत, नृत्य एवं भोग में रत रहने वाले इन्द्र की इस प्रकृति को अबुलफत्तल सिद्दीकी कहानी ‘यज्जं व कम्द आवर’ में इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं

“...और सातों अप्सराएँ जरा ठिठकीं और फिर बेसाख्ता मुस्कुरा पड़ीं और खास इन्द्र महाराज का महबूब रक्स शुरू किया।”

गणेश विघ्न विनाशक एवं बुद्धिमान देवता माने जाते हैं। उनका बढ़ा हुआ पेट और पेटू स्वभाव इस बात का प्रतीक है कि वे प्रत्येक रहस्य को पचा लेते हैं। इधर की बात उधर करने की उनकी प्रवृत्ति नहीं है। फहमीदा रियाज कृत उपन्यास ‘गोदावरी’ में इसका उल्लेख है

“गणेश जिन्हें सारे वेद जबानी याद थे और जो इतने जहीन होने के साथ-साथ पेटू भी बहुत थे; एक बार किसी देवता ने भोज पर बुलाया तो उसकी मेज कुर्सियाँ और प्लेटें तक खा गए क्योंकि उनके पेट में सब कुछ समा सकता था। तमाम ख्यालात और सभी चीजे; खाने और न खाने वाली।”

पाकिस्तानी कथा-साहित्य में भारतीय देवी-देवताओं का सहज प्रतीकात्मक एवं कलात्मक प्रयोग न केवल आश्चर्य चकित करता है बल्कि इस बात की पुष्टि भी करता है कि पाकिस्तानी संस्कृति की जड़े भी वहीं हैं जहाँ भारतीय संस्कृति की हैं।

वस्तुतः यह भारतीय उपमहाद्वीप की संश्लिष्ट संस्कृति का ही एक अंग है जिसे पाकिस्तानी बुद्धिजीवियों का एक वर्ग सिर से ही नकारता है। वास्तविकता यह है कि पाकिस्तान की अपना कोई स्वतंत्र सांस्कृतिक पहचान नहीं है। पाकिस्तानी विदुषी डॉ. शौकत जहाँ तैमूरी का मत इस विषय में बहुत संतुलित है। वह कहती हैं कि ये तहजीब न खालिस हिन्दुवाना है न खालिस मुसलमानी बल्कि दो तहजीबों और सक्नफ्तों की सेहतमंद आमिज्ज का नतीजा है। यही तहजीबी सक्नफ्त हमारा तहजीबी विर्सा है और इसीका मुताला हमारी तहजीब औ मआशरत का तारीखी मुताला है।

भारतीय दर्शन का भावी स्वरूप

सरोज कुमार वर्मा*

“भारतीय दर्शन की रुचि मानव-समुदाय में है, किसी काल्पनिक एकांत में नहीं। इसका उद्भव जीवन में से होता है और विभिन्न शाखाओं और सम्प्रदायों में से होकर यह पुनः जीवन में प्रवेश करता है।”¹ राधाकृष्णन का यह कथन प्रमाणित करता है कि यहाँ दर्शन जीवन, जीवन की समस्याओं पर विचार तथा उन्हें दूर करने के विकल्पों की तलाश से जुड़ा रहा है। भारतीय दार्शनिकों ने यह काम गहन तत्परता से किया है। उन्होंने जीवन की समस्याओं का सूक्ष्मता और समग्रता से अध्ययन करते हुए उनके समाधान के सूत्र खोजे हैं।

भारत में ‘दर्शन’ शब्द की उत्पत्ति ‘दृश’ (देखना) धातु से हुई है। सामान्य अर्थ में दर्शन स्थूल तत्त्व को देखने तथा विशेष अर्थ में यह परम तत्त्व को देखने की प्रणाली है। भारतीय दर्शन में यह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए जब जिज्ञासु उस वस्तु के बारे में पूछता है, जिसके दर्शन से सभी प्रकार के दुःख सदा के लिए दूर हो जाते हैं, तो ज्ञानी उसे आत्मा को देखने की सलाह देता है। अब चूँकि आत्मा इन्द्रियों के द्वारा नहीं देखी जा सकती, इसलिए यह देखना अन्तर्ज्ञान के द्वारा होता है। इस प्रकार दर्शन परम तत्त्व का साक्षात्कार है।

परम तत्त्व को लेकर भारतीय दर्शन का स्वरूप मूलतः आध्यात्मिक रहा है। राधाकृष्णन के शब्दों में “यहाँ यह माना गया है कि परम सत्य आध्यात्मिक सत्य ही है और उन्हीं के प्रकाश में जीवन का संस्कार किया जाना चाहिए।”² इसीलिए भारतीय संस्कृति में अध्यात्म का स्थान सर्वोच्च रहा है तथा दर्शन आत्मज्ञान का साधन। यहाँ की दार्शनिक पद्धतियाँ शाब्दिक जुगाली मात्र न होकर जीवन का अनिवार्य हिस्सा रही हैं। भारत को बाहरी आक्रमणों तथा आन्तरिक फूट जैसी ऐतिहासिक दुर्घटनाओं से उबर सकने की शक्ति उसे हमेशा अध्यात्म से ही मिली है। अध्यात्म के कारण ही वह समय के किसी विपरीत प्रभाव को झेल ले जाने में सफल हुआ है। राधाकृष्णन इस पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं “भारतीय विचारधारा का सर्वोपरि स्वरूप, जिसने इसकी समग्र संस्कृति का ओतप्रोत कर रखा है और जिसने

* डॉ. सरोज कुमार वर्मा, दर्शन विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर-842001 (बिहार), पता : श्रीकृष्ण नगर, खबड़ा, मुजफ्फरपुर-843146 (बिहार)

इसके सब चिन्तकों को एक विशेष प्रकार का ढाँचा प्रदान किया है, इसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति है।³ इसी प्रवृत्ति के कारण अध्यात्मवाद भारतीय दर्शन की मुख्य धारा के रूप में स्थापित हो सका है।

यद्यपि भारतीय दार्शनिक परम्परा में भौतिकवाद का भी स्थान है, परन्तु अति प्राचीन होने के बावजूद यहाँ यह की मुख्य धारा कभी नहीं रही। परम्परा में इसका एकमात्र उदाहरण चार्वाक दर्शन है। राधाकृष्णन अपनी पुस्तक 'भारतीय दर्शन' के प्रथम खण्ड में भौतिकवादी धारा की प्राचीनता की चर्चा करते हुए इसके अन्तर्गत केवल चार्वाक दर्शन का ही उल्लेख करते हैं तथा एस. एन. गुप्ता ने भी 'भारतीय दर्शन का इतिहास' लिखते हुए तीसरे खण्ड के अन्त में 'परिशिष्ट' के अन्तर्गत लोकायत, चार्वाक और बार्हस्पत्य नाम से प्रसिद्ध, जो एक ही दर्शन के नाम हैं, भौतिकवादी दर्शन के बहुत प्राचीन होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं; परन्तु यह भारतीय दर्शन की मुख्य धारा है, ऐसा नहीं कहते।

अध्यात्मवाद मूल तत्त्व को ब्रह्म कहता है और यह प्रतिपादित करता है कि इस ब्रह्म का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि वह इन्द्रियातीत है। फिर उसे बुद्धि के द्वारा भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि वह बुद्धि के पार है। उसे जानने का एक मात्र उपाय अन्तर्ज्ञान है। यह अपरोक्ष ज्ञान है, जिसमें ब्रह्म किसी माध्यम के द्वारा नहीं जाना जाकर साक्षात् जाना जाता है। इस सम्बन्ध में शंकर स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ब्रह्म ज्ञान का अवसान अपरोक्ष अनुभव में होता है—'अनुभवावसानत्वात् भूतवस्तु विषयत्वात् च ब्रह्म ज्ञानस्य' (शा. भा. 1. 1. 4)। शंकर इसी ब्रह्म ज्ञान को मोक्ष कहते हैं।

भारतीय समाज में कई प्रकार की विसंगतियाँ अध्यात्मवादी तत्त्वमीमांसा की ज्ञानमीमांसीय स्थापना तथा नीतिमीमांसीय निष्पत्ति के दुरुपयोग के कारण पैदा हुई। अब इन आत्मा, ब्रह्म, मोक्ष, अन्तर्ज्ञान आदि इन्द्रियातीत और पारलौकिक अवधारणाओं के कारण समाज में एक ऐसा वर्ग पैदा हो गया, जो इन सबका व्यापार करने लगा। भौतिकवादी दर्शन ने भारतीय दर्शन की मुख्य धारा नहीं होने के बावजूद मुख्य धारा के नाम पर फैली रूढ़ियों और कुरीतियों का तीखा विरोध किया। अध्यात्मवाद का सहारा लेकर जो अन्धविश्वास और पाखण्ड फैलाए गए थे उनकी कटु आलोचना की। चार्वाक ने ठगने और शोषण करने वाले पंडित पुरोहितों को भाण्ड-निशाचर कहा तथा आम जनता को उनके षड्यन्त्रों से बचने की हिदायत दी। **राधाकृष्णन** इस योगदान की चर्चा करते हुए कहते हैं—'चार्वाक दर्शन उस युग के भूतकाल के बोझ से, जो उसे बलपूर्वक दबाए हुए था, छुटकारा दिलाने के लिए एक हठधर्मी वाला प्रयत्न था। रूढ़ीवाद को हटाना आवश्यक था, जिसमें भौतिकवाद ने बहुत बड़ी सहायता की...'⁴

भारतीय दर्शन की अपनी परम्परा में सदैव निष्ठा रही है। यह उसका विशिष्ट गुण है। **राधाकृष्णन** के अनुसार—'भूतकाल के प्रति इस प्रकार की निष्ठा ने भारतीय

विचार में एक प्रकार के नियमित नैरन्तर्य को उत्पन्न किया है...'⁵ इसी नैरन्तर्य के कारण समकालीन भारतीय दर्शन भी अपनी परम्परा से प्रेरणा लेते हुए मुख्यतः अध्यात्मवादी ही रहा। परन्तु इस काल के दार्शनिकों द्वारा वेदान्त, विशेष कर अद्वैत, की अवधारणाओं को नए ढंग से परिभाषित-व्याख्यायित करने के कारण इस काल के अध्यात्मवाद को नव्य-वेदांतवाद कहा गया। रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी, डॉ. राधाकृष्णन, महर्षि अरविन्द तथा महर्षि रमण आदि इस युग के सभी प्रमुख दार्शनिक नव्यवेदांतवादी ही थे, जिनके विचारों में अध्यात्मवाद नए ढंग से प्रतिपादित होता है। इसीलिए डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना कहती हैं—'विश्व के आध्यात्मिक पक्ष की परमता पर बल देना और जगत के प्रति एक स्वस्थ भावात्मक दृष्टिकोण विकसित करने की महत्ता को प्रतिपादित करना लगभग इस युग के सभी अध्यात्मवादी दार्शनिकों की विशेषता है।'⁶

परन्तु, यह युग भारत की राजनैतिक गुलामी का युग था। इस पर अंग्रेजों का शासन था। वे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सभी तरीके से यहाँ के दर्शन को हीन तथा अपने दर्शन को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास कर रहे थे। इसी प्रयास में पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन-अध्यापन यहाँ प्रारम्भ हुआ। इसका प्रभाव पड़ा। यहाँ के दार्शनिक पाश्चात्य दर्शन के प्रति आकृष्ट हुए। इनमें कई दार्शनिकों ने भारतीय दर्शन की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए पाश्चात्य दर्शन का अध्ययन किया, ताकि पाश्चात्य दार्शनिकों को उन्हीं की शैली और शर्तों पर जवाब दिया जा सके; तो कई पाश्चात्य दर्शन से प्रभावित होकर उसके अध्ययन में तत्पर हुए। फलस्वरूप यहाँ भी मूर, रसेल, विट्गेन्सटाइन, राइल, हुसैरल, सार्त्र आदि पाश्चात्य दार्शनिकों का अध्ययन-अध्यापन होने लगा। इसके कारण विश्लेषणवाद, तार्किक प्रत्यक्षवाद, अस्तित्ववाद, संवृत्तिशास्त्र, भाषा-दर्शन, विज्ञान-दर्शन आदि पाश्चात्य विचारधाराओं का भारतीय दर्शन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। भारतीय दर्शन का वर्तमान परिदृश्य इन सबके गहरे प्रभाव में निर्मित हुआ है।

इस निर्माण में विज्ञान ने भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह सरलता से इसलिए भी सम्भव हो सका क्योंकि यह युग विज्ञान का रहा है। उसके नए-नए आविष्कारों ने मनुष्य को चमत्कृत कर दिया है, उसे कई तरह की सुविधाएँ और विस्तार उपलब्ध कराए हैं। उसकी प्रक्रिया में एक तार्किक सुनिश्चितता भी है और उसके परिणाम में परीक्षणीय तथ्यता भी। पाश्चात्य दार्शनिक इससे प्रभावित होकर दर्शन में भी विज्ञान जैसी सुनिश्चितता तथा परीक्षणीयता की आकांक्षा करने लगे। इसके लिए उन्होंने दर्शन को विज्ञान पर आधारित करने का प्रयास किया। इस प्रयास ने तत्त्वमीमांसा का निराकरण कर उसकी अवधारणाओं को निरर्थक घोषित कर दिया। अब चूँकि इसका गहरा प्रभाव भारतीय दर्शन पर पड़ा, इसलिए, इसकी वजह से भारतीय दर्शन के आध्यात्मिक स्वरूप को गहरा धक्का लगा। इन सबके कारण बाद में भारतीय दर्शन में जो तब्दीली आई, उसे स्वातन्त्र्योत्तर युग की विशेषता कहते

हुए **संगम लाल पाण्डेय** लिखते हैं“स्वदेशी चिन्तन का अभाव तथा समकालीन पाश्चात्य दर्शन का घनघोर प्रभाव इस युग की प्रमुख विशेषता है। यथार्थवाद और भाषा विश्लेषण ने प्रत्येक दार्शनिक को विमुग्ध कर लिया है। जो लोग प्रत्ययवाद और अध्यात्मवाद की चर्चा करने का प्रयास करते हैं, वे भी यथार्थवाद और भाषा-विश्लेषण के आलोक में मूल्यवाद, को प्रस्तुत करते हैं।”⁷ इसीलिए **उनके** अनुसार“स्वातन्त्र्योत्तर युग की चार प्रवृत्तियाँ मुख्य हैं—मूल्यवाद, भाषा-विश्लेषण, अनुभववाद और साम्यवादी भौतिकवाद।”⁸ यह भारतीय दर्शन के वर्तमान परिदृश्य की पृष्ठभूमि है।

इस पृष्ठभूमि से उपजे वर्तमान परिदृश्य में यह स्पष्ट दृष्टिगत होता है कि यद्यपि इस भौतिकवाद, विश्लेषणवाद, प्रत्यक्षवाद तथा विज्ञान आदि के कारण भारतीय समाज की रूढ़ियाँ जरूर टूटीं, कई प्रकार के पाखण्ड खत्म हुए, अध्यात्मवाद के नाम पर फैले अन्धविश्वास में कमी आई तथा शोषण का तन्त्र कमजोर हुआ। लेकिन इनके बदले समाज में दूसरी तरह की विकृतियाँ फैल गईं। जनता के शोषण का नया तंत्र स्थापित हो गया। यह पहले से ज्यादा मजबूत और मोहक है। ऐसा एक अति से दूरी अति पर जाने की वजह से हुआ। भौतिकवादी चिन्तक अध्यात्मवाद के दुरुपयोग करने वाले कारकों पर प्रहार करने के बजाय अध्यात्मवादी दर्शन पर ही प्रहार करने लगे। उनके लिए अन्तर्ज्ञान, आत्म-साक्षात्कार, मोक्ष आदि तत्त्व सब बेमानी हो गए। इन्हें काल्पनिक, असत्य और अयथार्थ घोषित कर दिया गया। सत्य और यथार्थ केवल भौतिक वस्तुएँ रह गईं, वे वस्तुएँ जो विज्ञान की कसौटी-इन्द्रिय और बुद्धिपर खरी उतरतीं हों। जाहिर है इस घोषणा की वजह से यह शरीर, यह संसार और यहाँ के भौतिक सुख जीवन के अन्तिम लक्ष्य हो गए। चार्वाक ने तो प्रतिपादित कर ही दिया था कि शरीर के साथ आत्मा के नष्ट हो जाने के कारण पुनर्जन्म नहीं होता, इसलिए कर्ज लेकर भी घी जरूर पीना चाहिए। अब कर्ज चुकाने की कोई नैतिक बाध्यता नहीं रही। बस दैहिक सुख, चाहे वह जैसे प्राप्त हो, प्राप्त करना जीवन का एक मात्र अभीष्ट हो गया। इस प्रकार भौतिकवादियों के अध्यात्मवादी दर्शन के चार पुरुषार्थों में से धर्म और मोक्ष की कोई महत्ता नहीं रह गई। महत्ता केवल अर्थ और काम की रही। इतना ही भर सार्थक रहा, बाकि सब निरर्थक हो गया। **राधाकृष्णन** के शब्दों में “उपाधिरहित, स्वच्छन्द आनंद प्रमोदवाद ही भौतिकवादियों का नैतिक आदर्श है। खाओ, पीयो और मौज उड़ाओ, क्योंकि मौत तो सबको आनी है, जो हमारे जीवन को निःशेष कर देगी। ...सुकृत कर्म प्रपंच अथवा भ्रान्ति मात्र है और सुखभोग ही यथार्थ सत् है।”⁹ **हिरियन्ना** के अनुसार भी “चार्वाक दर्शन मनुष्य के चित्त को उच्चतर जीवन के विचार से बिल्कुल हटा देता है और उसे विषयभोग की दुनिया में केन्द्रित कर देता है। ...फलतः यदि इस दर्शन का कोई आदर्श प्रतीत होता हो, तो वह शुद्ध और सीधे सुखवाद का आदर्श है। मनुष्य का एकमात्र लक्ष्य इस जीवन में सुख और वह भी सिर्फ अपना-प्राप्त करना है।”¹⁰

भौतिकवादियों की इस स्थापना के कारण ही आज का समाज अर्थ केन्द्रित हो गया है। चूँकि व्यक्तिके काम की तुष्टि, उसके भौतिक सुखों की पूर्ति अर्थ से हो सकती है, इसलिए अधिकाधिक अर्थ प्राप्त करना जीवन का एकमात्र लक्ष्य हो गया है। आज की साम्राज्यवाद, बाजारवाद उपभोक्तावाद, आतंकवाद आदि विकृतियाँ इसी सैद्धान्तिक स्थापना की व्यावहारिक परिणति हैं। राष्ट्रों के युद्ध और व्यक्तियों की प्रतिस्पर्धा के मूल में भी यह अर्थ ही है। इसीलिए आज के प्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक **सच्चिदानन्द सिन्हा** कहते हैं“बीसवीं सदी की तरह इक्कीसवीं सदी में दुनिया का सबसे बड़ा अनिष्ट जिस शास्त्र से होने की सम्भावना है वह है अर्थशास्त्र जो दरअसल शास्त्रों की बुनियादी मान्यता के हिसाब से कोई शास्त्र है ही नहीं। . ..अर्थशास्त्र बिना इसकी सत्यता की परीक्षा किए यह आधार अपनाता है कि आदमी के कार्यकलाप लोभ एवं ईर्ष्या से परिचालित होते हैं। इतना ही नहीं, आदमी को आर्थिक आदमी मान लिया जाता है जिसके ये आदर्श गुण माने जाते हैं। यह अपेक्षा की जाती है कि हर व्यक्ति इन्हीं आदर्शों के गुणयानि लोभ एवं ईर्ष्याके अनुरूप व्यवहार करेगा।”¹¹ गाँधीवाद के अध्येता **राजीव वोरा** के अनुसार भी“विश्व की भौतिकवादी व्याख्या और समझ तथा भौतिक जीवन की व्यवस्था और प्रगति हिंसा के विविध रूपों में विस्फोट द्वारा अपनी सीमा रेखा खींच रही है।”¹²

भौतिकवाद के इन दुष्परिणामों को और गहन तथा प्रभावकारी बनाने का काम विज्ञान ने किया है। इसने अपनी खोजों के द्वारा भौतिक समृद्धियों के तो पहाड़ खड़े कर दिए, इससे विज्ञान द्वारा उन्नति का मार्ग प्रशस्त होने के बदले आतंक का वातावरण निर्मित हो रहा है। इसकी तपिश को महसूस करते हुए **सच्चिदानन्द सिन्हा** कहते हैं“...बीसवीं सदी जिसे हम विज्ञान की सदी कहते हैं दरअसल उपभोक्तावादी विशिष्टता की सदी है। इसी से चमत्कृत करने वाली इसकी चकाचौंध दिखाई देती है जो वर्तमान समाज के अस्तित्व के लिए संकट का भी कारण है।”¹³ इस भौतिकवादी चिन्तन और विज्ञान ने मिलकर एक ऐसा दर्शन प्रतिपादित कर लिया है जिससे वर्तमान समय के संकट के सारे तार जुड़े हैं। वैयक्तिक द्वेष, सामाजिक हिंसा, राष्ट्रीय युद्ध, वैश्विक विनाश, स्वार्थवाद, विज्ञापनवाद, भूमण्डलवाद, प्रभुत्ववाद, धन-लोलुपता, सत्ताकांक्षा आदि जितनी समस्याएँ हैं उन सबकी जड़ में यही दर्शन है। पाश्चात्य अवधारणाओं के निरन्तर अनुकरण से भारतीय दर्शन के समक्ष सबसे बड़ा संकट उसकी पहचान का ही उपस्थित हो गया है। इसकी सुरक्षा अपनी परम्परा से जुड़कर हो सकती है।

पाश्चात्य जीवन और समाज भारतीय जीवन और समाज से भिन्न हैं। इसलिए वहाँ का दर्शन वहाँ की समस्याओं का समाधान कर सकता है, वहाँ का नहीं। वहाँ की समस्याओं के समाधान के लिए, वहाँ के दर्शन को, वहाँ की परम्परा और संस्कृति से ऐसे सूत्र ढूँढ़ने होंगे जो वहाँ के समाज, जीवन, प्रकृति और परिवेश के अनुकूल हों। यह सूत्र अध्यात्मवाद में मिल सकता है। वस्तुतः अध्यात्मवाद ही वह दर्शन है, जो मूल

सत्ता को आध्यात्मिक, अन्तर्ज्ञान को ज्ञान प्राप्ति का साधन तथा मोक्ष को जीवन का आत्यंतिक लक्ष्य मानता है। यद्यपि इस मान्यता के कारण वह इस जीवन, जगत तथा शरीर को अस्वीकार नहीं करता, इनकी अनिवार्य महत्ता स्वीकार करता है, परन्तु इन्हें अन्तिम नहीं मानता। इसलिए न तो इनकी उपेक्षा करनी चाहिए न इनके साथ दुर्व्यवहार करना चाहिए। इनका पूरा सम्मान करते हुए इनका सहयोग लेना चाहिए। परन्तु इन्हें आत्यंतिक नहीं मान लेना चाहिए। ये साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य तो आत्मज्ञान ही है। इसी ज्ञान से यह पता चलता है कि सबमें एक ही आत्मा निवास करती है। इसलिए दूसरे को किसी प्रकार का दुःख देना, वास्तव में अपने को ही दुःख देना है। इसी की व्यावहारिक परिणति प्रेम, दया, करुणा, अहिंसा, सहिष्णुता, सहयोग, त्याग, भ्रातृत्व आदि की भावना में होती है।

सन्दर्भ

1. डॉ. राधाकृष्णन; 'भारतीय दर्शन' (प्रथम खण्ड); पृ.-20; राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली, 1986.
2. वही, पृ.-20.
3. वही, पृ.-34.
4. वही, पृ.-229.
5. वही, पृ.-38.
6. डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना (सम्पादक); 'समकालीन भारतीय दर्शन'; पृ.-7; उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग) राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ; 1983.
7. संगम लाल पाण्डेय; "समकालीन भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियाँ"; 'समकालीन भारतीय दर्शन' (सम्पादक-डॉ. (श्रीमती) लक्ष्मी सक्सेना, डॉ. सभाजीत मिश्र, श्री शिवानन्द शर्मा); पृ.-19.
8. वही, पृ.-19.
9. वही, पृ.-227.
10. एम. हिरियन्ना; 'भारतीय दर्शन की रूपरेखा'; पृ.-194; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1980.
11. सच्चिदानन्द सिन्हा; "इक्कीसवीं सदी का समाज : सम्भावना और चुनौती"; 'वागर्थ', अंक-75, सितम्बर 2001 (नई शती का भविष्य विशेषांक); पृ.-75; भारतीय भाषा परिषद, 36 ए, शेक्सपीयर सरणी, पो. बॉक्स न.-16130, कोलकाता-700017.
12. राजीव वोरा, "इक्कीसवीं शती में गाँधीवाद का भविष्य"; 'वागर्थ'; सितम्बर 2001, पृ.-154.
13. वही, पृ.-75.
14. 'विश्वभारती क्वार्टली'; अक्टूबर, 1924.
15. अशोक वोहरा; "स्वातन्त्र्योत्तर भारत में दर्शन : एक विहंगम दृष्टि"; 'चिन्तन-सृजन' वर्ष-1; अंक-1, जुलाई-सितम्बर 2003; पृ.-92.

पाठकीय प्रतिक्रिया

'चिन्तन-सृजन' का जनवरी-मार्च, 2006 का अंक मिला। इस पत्रिका के सभी अंकों के समान इस अंक के भी प्रायः सभी लेख बहुत अच्छे हैं। आश्चर्य की बात है कि आप इतनी संख्या में इतने अच्छे लेख कैसे जुटा लेते हैं! अन्य किसी पत्रिका के लिए यह नहीं कहा जा सकता। इस अंक के 'विचार-धारा कीमौत' लेख में देश की सर्वविदित कष्टप्रद स्थिति को जिस प्रकार सशक्त रूप में प्रस्तुत किया गया है उसके लिए इसके लेखक श्री हरिवंश साधुवाद के पात्र हैं। श्री शंकर शरण का लेख 'मुहम्मद के कार्टून' उनके सब लेखों के समान ही विशेष रूप से पठनीय हैं।

**यशदेव शल्य, दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51,
मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015.**

'चिन्तन-सृजन' का अंक, वर्ष 3, अंक 3, जनवरी-मार्च 2006 मिल गया है। उसमें आपने तत्परता दिखलाकर मेरा विस्तृत लेख छाप दिया। उस पर श्री विष्णु प्रभाकर, दिल्ली, तथा डॉ. पुष्पपाल सिंह, पटियाला के पत्र प्रतिक्रिया के मिले। पत्र संभवतः आपको भी मिलेंगे। ऐसे मेरे लेख छपने से रह गए हैं। उनमें एक इतना ही बड़ा लेख 'यक्ष' पर मैंने लिखा है। कलकत्ते के विद्वान ने मांगा था। उनके कहने से लिखा भी किन्तु वर्षों हो गए, वह छपा नहीं। पड़ा रहा है। आप अभिरूचि रखें तो भेजूंगा। सम्प्रति मैं इस समय लिखा हुआ लेख 'प्राकृत पैंगलम् और आधुनिक भाषाएँ' शीर्षक भेज रहा हूँ। मेरा कार्य प्राकृत भाषा पर चल रहा है। कुछ कार्य हो गया है। तीन-चार सौ पृष्ठों की पुस्तक होगी। इसके बाद धम्मपद (बौद्ध धर्मका त्रिपिटक ग्रंथ) पर लेख होगा। अभी पढ़ रहा हूँ। पालि-भाषा पर कार्य होगा।

**डॉ. राजमल बोरा 'रत्नदीप' 5, मनीषा नगर,
केसरसिंहपुरा, औरंगाबाद (महाराष्ट्र) -431 005.**

...पत्रिका अपनी प्रस्तुति और सामग्री में लीक से हटकर एक पठनीय पत्रिका की आस्वस्ती देती है। आपका संपादकीय भी व्यापक सरोकारोंवाला है। कभी इस मुद्दे पर भी विमर्श करें की राजनीति दलों में परिवारवाद इस कदर हावी होता जा रहा है कि शेष नेताओं का कद बौना बनकर रह गया है।

पुष्पपाल सिंह, पटियाला।

‘चिन्तन-सृजन’ का जनवरी-मार्च, 2006 का अंक मिला। यह अंक भी पूर्वाकों की तरह अक्षरशः सारस्वत शोध गरिमा का संवहन करता है। इसमें सम्मिलित सभी आलेख आधिकारिक लेखनियों से प्रसूत हैं और आलेखकों द्वारा स्वीकृत अपने-अपने विषय में उनकी गहरी पैठ की सूचना देते हैं। किन्तु प्राज्ञवर डॉ. राजमल बोरा के ‘गुणाढ्य की बृहत्कथा: इतिहास और लोकवाङ्मय’ शीर्षक आलेख ने मुझे सर्वाधिक आवर्जित किया है; क्योंकि नामशेष ‘बृहत्कथा’ के व्योदभावनों में ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह : नेपाली वाचना : बुधस्वामी, ‘कथासरित्सागर’ : कश्मीरी वाचना : सोमदेव भट्ट, ‘बृहत्कथामंजरी’; कश्मीरी वाचना : क्षेमेन्द्र एवं वसुदेवहिण्डी’ : जैन वाचना : आचार्य संधदासगणी प्रमुख हैं। क्षेमेन्द्र और सोमेदेव ने स्पष्ट ही लिखा है उन्होंने ‘बृहत्कथा’ का सार-संग्रह करके अपने कथा ग्रन्थ की रचना की है:

1. इत्येतां विपुलाश्चर्यां स राजा सातवाहनः ।
गुणाढ्या च्छिष्यसहितः सामासाद्य बृहत्कथाम् ॥
क्षेमेन्द्रनामा तनयस्तस्य विद्वत्सु विश्रुतः ।
कथामंतामनुध्यायन्दिनेसु विपुलेक्षणः ।
विदधे विबुधानन्दसुधास्यन्दतरङ्गिणीम् ॥
(क्षेमेन्द्रः बृहत्कथामंजरी; उपसंहारः श्लोक 27,36,40)
2. बृहत्कथायाः सारस्य इग्रहं रचयाम्यहम् ।
(कथासरित्सागरः सोमदेवः कथापीठ लम्बक; प्रथम तंरग, श्लोक 3)
3. नानाकथामृतमयस्य बृहत्कथायाः सारस्य सज्जनमनोम्बुधिपूर्णचन्द्रः ।
सोमेन विप्रवर-भूरिगुणाभिराम-रामात्मजेन विहितः खलु सङ्ग्रहोऽयम् ॥
(तत्रैवः उपसंहारः अन्तिम प्रशस्ति-श्लोक)

अस्तु, ‘वसुदेवहिण्डी’, बृहत्कथा के उक्त नेपाली नव्योद्भावन (‘री-हैश’) ‘बृहत्कथाश्लोकसंग्रह’ का परवर्ती (या कनीय समकालीन तथा कश्मीरी नव्योद्भावनों- ‘बृहत्कथामंजरी’ और ‘कथासरित्सागर’ के पूर्ववर्ती जैनाम्नाय पर आधृत प्राकृत-नव्योद्भावन है। गुणाढ्य से सोमदेव तक की भारतीय कथाओं के विस्तृत भौगोलिक क्षितिज पर ‘वसुदेवहिण्डी’ का ज्योतिर्मय भाव-भास्वर उदय नितान्त विस्मयजनक है। वस्तुतः यह गुणाढ्य की पैशाची बृहत्कथा का प्राकृत-रूपान्तर है। कील युनिवर्सिटी, जर्मनी के प्राच्यविद्या विभाग के अध्यक्ष ऑल्सडोर्फ लुडविग, फ्रेंच विद्वान प्रो. लाकोत, ‘हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर’ के लेखक विण्टरनिस्सआदि पश्चिम से विद्वानों ने इस सन्दर्भ में पर्याप्त प्रकाश-निक्षेप किया है। विशेष कर ऑल्सडोर्फ का निबन्ध ‘एडन नेवे वर्सन डेर क्लोरेनेन बृहत्कथा डेस गुणाढ्य (‘ए न्यू वर्सन ऑव दि लॉस्ट बृहत्कथा ऑफ गुणाढ्य’) पर्याप्त प्रामाणिक सूचना का उपन्यासक है। और फिर,

प्रसिद्ध जैन-मनीषी डॉ. जगदीशचन्द्र जैन की कृति ‘दि वसुदेवहिण्डी: एन औथेण्टिक जैन वर्सन ऑव दि ‘बृहत्कथा’ तथा इन पंक्तियों के लेखक का शोधग्रन्थ -वसुदेवहिण्डी: भारतीय जीवन और संस्कृति की बृहत्कथा, प्रामाणिक और विश्वसनीय सूचना के लिए मननीय और मीमांस्य हैं इन पंक्तियों के लेखक ने पूरी ‘वसुदेवहिण्डी’ को प्राकृत से हिन्दी में मूल-सह अनूदित किया है, जो प्रकाशित है।

डॉ. बोरा का प्रकथन अधिकतर केलकर एवं दुर्गा भागवत के द्वारा विवृत मन्तव्य का अनुसारी है ओर शब्दों के पाठ में भ्रान्तियाँ भी हैं। जैसे: ‘कथासरित्सागर’ के दसवें लम्बक का नाम ‘शक्तियश’ है, ‘शक्तिवश’ नहीं। इसी प्रकार शुद्ध शब्द ‘वेताल’ है, ‘वैताल’ नहीं। वेताल सिद्धि के इच्छुक मूल ‘वेताल पचीसी’ में भिक्षु का नाम क्षान्तिशील है (सूचनार्थ निवेदित; इन पंक्तियों के लेखक द्वारा सम्पन्न ‘वेताल पचीसी’ का संस्कृत से हिन्दी अनुवाद वाराणसी के विश्वविद्यालय प्रकाशन से शीघ्र ही प्रकाशित होगा।) ‘वसुदेवहिण्डी’ के लेखक का नाम है संधदासगणी (गणाध्यक्ष)। ‘गणि’ का प्रयोग भ्रान्तिपूर्ण है। (शुद्ध रूपः गणिन् से गणी, धनिन से धनी मन्त्रिन से मन्त्री)। समासान्त में ‘गणि’ होता है, जैसे संधदासगणिवाचक’ पूरा नाम है। ‘अहिभार’ नहीं, अहिगार’ शब्द है (सं. ‘अधिकार’)। प्रा. कहुप्पत्ती (कथोत्पत्ति) शब्द है, ‘कहप्पत्ति’ नहीं। इसी प्रकार ‘पेढिया’ (पीठिका) शब्द है, ‘पेहिया’ नहीं। पुनः ‘उवसंहार’ शब्द है, ‘जनसंहार’ नहीं (सं. उपसंहार)। ‘साम्बु’ नहीं, ‘संबो’ (जाम्बवती - पुत्र ‘शाम्ब’) है। प्राकृत-शब्द ‘लावण्णवई सुहिरण्णा’ है, ‘लावाणवती’ नहीं। वसुदेव की अट्ठाईस पत्नियों से विवाह हुआ है, छब्बीस से नहीं। वसुदेव हिण्डी में अट्ठाईसपत्नियों के नाम हैं - श्यामा, विजया, श्यामली, गन्धर्वदत्ता, नीलयशा, सोमश्री¹ मित्तश्री, ६ नश्री, कपिला, पद्मा, अश्वसेना, पुण्ड्रा, रक्तवती, सोमश्री², वेगवती, मदनवेगा, बालचन्द्रा, बन्धुमती, प्रियंगुसुन्दरी, केतुमती, प्रभावती, भद्रमिता, सत्यादित्रा, पद्मावती, पद्मश्री, ललितश्री, रोहिणी और देवकी। ‘त्रिषष्टिशलाकापुरुष’ (प्रा. तिसष्टिसलायापुरिस’) शब्द शुद्ध है। वस्तुस्थिति यह है कि प्रायः इन अध्येताओं का अध्ययन वसुदेवहिण्डी के मूलस्वरूप के आधार पर नहीं, वरन् अंगरेजी-विदों के अध्ययन पर आधृत है, इसलिए वर्तनी सम्बन्धी गड़बड़ियाँ सहज हैं।

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, पटना।

...पत्रिका का स्तर अच्छे से थोड़ा ऊपर है। इस तरीके की चिन्ताओं वाली तथा सेक्यूलर वर्ग की पोल पट्टी खेलने वाली तथा भारत के सांस्कृतिक तथा साहित्यिक सन्दर्भों के बारे में गलत धारणों का एक बवण्डर खड़ा करनेवालों की कुचेष्टाओं का प्रतिकार तथा परिहार करने के प्रति सचेत रहने वाली पत्रिकाएँ निकलती ही कहाँ है। इन कार्यों के लिए एक अतिरिक्त ऊर्जा तथा प्रयास की

आवश्यकता है। वह ऊर्जा आप लोगों में है तथा वह प्रयास आप कर रहे हैं, यह जान-देख कर सुख मिलता है। इधर डायलॉग के कुछ अंक नेट पर देख सका। अच्छी लगी पत्रिका। चिन्तन-सृजन के जितने भी अंक पढ़े हैं मैंने उनमें एक दग्ध भावाकुल सत्ता का तो निदर्शन होता ही है, साथ ही उस शक्ति-संयोजन की भी छटपटाहट दिखायी देती है जो एक विफल प्राणसत्ता के पास एक अजीब से दुष्क्र से निकलने के लिए आवश्यक होती है।

...हम कुछ लड़के इधर एकजुट हो कर कुछ करने की कोशिश कर रहे हैं। एक अधबनी -सी संस्था गठित की है हम ने -सर्जना-वितान। अपने शक्ति-संयोजन परीक्षण हेतु एक पत्रिका से आरम्भ किया - वैतालिक। एक प्रति भेज रहा हूँ। वस्तुतः हम एक ऐसा विशाल आन्दोलन खड़ा करना चाह रहे हैं, जो अंगरेजी और अंगरेजीयत के सर्वनाशी तूफान को रोक सके। बहुत सारी योजनाएँ हैं हमारी, जिन्हें धीरे-धीरे हम कार्यान्वयित करना चाहते हैं। हम धीरे-धीरे साहित्य, विज्ञान और तकनीकी, अर्थशास्त्र, दर्शन, समाजशास्त्रीय अनुशासन, मनोविज्ञान आदि की भी अलग-अलग बेहद संश्लिष्ट पत्रिकाएँ निकालना चाहते हैं। और यह सब हिन्दी में ही रहेगा। पुनः हम ऐसे कई छोटे-छोटे दल बनाना चाहते हैं, जो लोगो को शिक्षित कर सकें, भारत के अन्तरतम तथा गुह्यतम क्षेत्रों तक जा कर। क्योंकि पत्रिकाएँ फिर भी एक Elite माध्यम बन कर रह जाती हैं भारत में, यदि पत्रिका थोड़ी भी उम्दा है, क्योंकि भारत का जनसामान्य एक अजीब-सी उखड़ी स्थिति में है। इसलिए इस जनसामान्य को तो सम पर लाना ही होगा। हम सभी यह जानते हैं कि यह एक दुर्लब्ध कार्य है, और इसके लिए अभूतपूर्व आत्मबल चाहिए। पुनः राजनीति का ऋणात्मक प्रवेश तथा अर्थादि की व्यावहारिक समस्याएँ हैं। और ये सभी तो हमारे निश्चय हुए, परन्तु अभी तो उठकर खड़े ही हुए हैं। हम स्वयं नहीं जानते कि हमें कौन-कौन से रास्ते अपनाने होंगे।

परन्तु आपलोग हैं, इस से कुछ बल मिलता है। एक महनीय कार्य कर रहे हैं आपलोग। कृपया मार्ग-दर्शन करें। एक पत्रिका, फिर कई पत्रिकाएँ तथा एक सुपुष्ट संस्था तथा सृजनधर्मी आन्दोलन कैसे खड़ा करते हैं, यह कृपया आपलोग सुझाएँ। हम सचमुच नहीं जानते कि हमारा पाथेय क्या होगा। कृपया मार्गदर्शनकरें। और मैं क्या लिखूँ; मैं नहीं बढ़ पा रहा आगे। अतः अन्त करता हूँ। आप के तथा आस्था भारती के दीर्घ स्वास्थ्य की कामना के साथ।

**कुमार सौरभ, सी - 22/2 डी आर डी ओ टाऊनशिप,
कंचनबाग, हैदराबाद।**

‘डायलॉग’ का, जनवरी-मार्च, 2006 का अंक सुरक्षित प्राप्त हुआ। अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में आपके समानान्तर सम्पादन वैदुष्य की जितनी भी प्रशंसा की

जायगी कम होगी। भारतवर्ष में एक से एक प्रतिभावान अंग्रेजी-लेखक हैं, पर उनके लेखन-श्रम की इयत्ता और ईदृक्ता का मूल्यांकन करने वालों की बहुलता नहीं है, अलबतों, विदेशों के भारतीयों में ‘डायलॉग’ जैसी पत्रिका के मूल्यांकन-कर्ता अधिक होंगे। ‘डायलॉग’ द्वारा भारतीय अंग्रेजी लेखन-प्रतिभा के सीमान्त-पारगामी विनियोग की दिशा में आपकी सम्पादन-प्रतिभा क्रोशशिला सिद्ध हो रही होगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

- डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, पटना।

‘चिन्तन-सृजन’ का जनवरी-मार्च 2006 अंक प्राप्त हुआ डॉ. शंकर पुणतांबेकर के सौजन्य से। पढ़कर अभीभूत हूँ। इतनी ज्ञानवर्धक एवं अच्छी रचनाएं, पूरा दिन अच्छा गया। बधाई। ‘विचारधारा की मौत’ में स्वराज्य पक्ष एवं नेहरू-प्रसंग ने झकझोर दिया। नेहरूजी के सम्बंध में यह एक नई दृष्टि थी। रचनाएं एक से बढ़ कर एक, क्या कहूँ।

सुधीर ओखदे, जलगांव।

...आपके द्वारा संपादित दो पत्रिकाएँ ‘चिन्तन-सृजन’ और डायलॉग (क्वंसवहनम) बहुत-बहुत उपयोगी हैं। वे दोनों पत्रिकाएँ भारतीय जन मानस को वर्तमान चुनौतियों से रूबरू कराती हैं। वे जहाँ एक ओर अपने पाठकों को ज्ञान-संपन्न बनाती हैं, वहीं दूसरी ओर उन्हें लोकतांत्रिक जीवन के लिए वांछित सजग एवं सकारात्मक दृष्टि प्रदान करती हैं। और इसलिए मैं कह सकता हूँ कि आपका कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं स्तुति योग्य है।

डायलॉग (अक्टूबर-दिसम्बर 2005) वस्तुतः संग्रहणीय है। उसमें हमारे वरिष्ठ पत्रकारों एवं चिन्तकों के, समाचार माध्यमों की भूमिका पर बड़े सुस्पष्ट एवं बेबाक विचार व्यक्त हुए हैं।

चिन्तन-सृजन (जन.-मार्च, 06) स्वयं में विचारपूर्ण लेखों को सँजोए हुए है। वह पश्चिम के भोगवादी दर्शन से जूझ रहे भारतीय विचार एवं सृजन की स्थितियों एवं चिन्ताओं से हमें अवगत कराती है।

हमारे राष्ट्रीय जीवन में आपका यह योगदान अत्यन्त मूल्यवान है। स्वस्थ लोकतंत्र एवं मूल्याधारित राजनीति के लिए वह एक सार्थक और प्रेरणाप्रद प्रयास है।

परम पिता से मेरी प्रार्थना है कि वह आपको दीर्घजीवन और उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करें ताकि आप देश और मानवता की सेवा में सतत संलग्न रह सकें।

जगदीश तोमर, ग्वालियर।

चिन्तन-सृजन ‘आस्था भारती’ की ही पत्रिका नहीं है, वह मेरी आस्था की भी पत्रिका है। अपने राष्ट्रीय चिन्तन को इस पत्रिका में प्रकाशित हुआ देख लेखक

गौरवानुभूति से भर उठता है।...

डॉ. नंदलाल मेहता वागीश, गुडगाँव।

जनवरी-मार्च 2006 के मूल्यावान अंक के लिए आभारी हूँ। श्री हरिवंश का आलेख 'विचारधारा कीमौत' अपने समय का मूल्यावान और पीड़क दस्तावेज है। इसकी हर पंक्ति पढ़ते हुए व्यथा होती है कि हमारे राष्ट्र का संचालन-तंत्र इस प्रकार निरंतर सर्वतोभाव से संवेदनविहीन सा होता चला गया है। हमारी पत्रकारिता प्रखर से प्रखरतर हुई है, किन्तु शासन और प्रशासन की चमड़ी मोटी होती हुई खाल बनती चली गई है। कितना अजीब लगता है जब हमारे ही द्वारा निर्वाचित हमारे विधायकों के बीच से दलाल, तस्कर, लुटेरे, हत्यारे, और न जाने क्या-क्या, कौन-कौन, समय-समय पर निकल कर हमें चौंका देते हैं। जो स्वनामधन्य हैं, और जहाँ हमारी आस्थाओं के टिके रहने के कारण अब भी मौजूद हैं, कभी-कभी उनकी प्रतिक्रिया भी इतनी केन्द्र-स्खलित होती है कि उनकी नीयत भी सन्देह के घेरे के बाहर नहीं रह जाती। कभी-कभी हमारी पत्रकारिता भी कई 'पापुलर और अवसरवादिता' के मामलों पर 'कलात्मक' और असूझ भाषा का उपयोग करती है। जब मूल्य घ्वस्त होने लगते हैं तो उनकी गूँज भी सार्वत्रिक होती है। राजनीति, बेडौल राजनीति, सचमुच अपने कद से बड़ी और भयावह हो गयी है।

इसी अंक में श्री शंकर शरण का लेख 'मुहम्मद के कार्टून' बहुत अच्छा लगा, खासकर उनकी साफ अभिव्यक्ति के कारण। गुणादय की बृहत कथा...के लिए राजमल बोरा जी जहाँ एक अच्छी रचना के लिए प्रशंसनीय हैं, वहीं आप इतने बड़े लेख को स्थान देने के लिए।

इस श्रेष्ठ दृष्टिपूर्ण पत्रकारिता के लिए आपको बधाई।

प्रोफेसर मदनमोहन तरुण, पुणे।

इस अंक में श्री हरिवंश का लेख 'विचारधारा की मौत' मैंने बड़ी दिलचस्पी के साथ पढ़ा। वे एकजाने माने पत्रकार हैं, इसलिये उनका यह लेख मीडिया से गायब होती विचारधारा पर विशेष रूप से केन्द्रित है। मैंने भी फरवरी 2006 में उदयपुर में हुए छठे अ. भा. लेखक सम्मेलन के लिए इसी विषय पर एक लेख तैयार किया था। उसकी एक प्रति आपके पास भेज रहा हूँ। दोनों लेखों का विषय एक होते हुए भी इसे आप उससे बिल्कुल अलग पायेंगे। उसमें मीडिया केन्द्र में था इसमें दलीय राजनीति निशाने पर है। सम्मेलन में तो इसे खूब सराहा गया था। शायद आपको व पत्रिका के पाठकों को भी पसन्द आये। कृपया अपने विचारों से अवगत करवायें।

सुरेश पंडित, लेखक एवं समाजकर्मी, 383,
स्कीम नं 2, लाजपत नगर, अलवर-301001.

मैंने आपकी पत्रिका 'चिन्तन-सृजन' को पढ़ा जो अत्यन्त रोचक ज्ञानवर्धक शिक्षाप्रद तथा समसामायिक विषयों से सम्बन्धित लगी जिसके अध्ययन से मैं अपना मानसिक विकास करने के साथ-साथ अपने छात्र-छात्राओं का भी मानसिक विकास करने में सफल हो सकता हूँ।

**विपिन कुमार सिंह "विसेन" प्रवक्ता/अध्यक्ष शिक्षाशास्त्र विभाग,
चौधरी चरण सिंह महाविद्यालय, पद्मापुर, पाण्डवनगर, बस्ती।**

आपने मेरी प्रतिक्रिया निकाली, दो अंक भेजे। प्रसन्नता समा नहीं पाती है। ...अप्रैल-जून 2005 के अंक का सबसे विचारोत्तेजक और शोधोपजीव्य लेख है 'पूर्वोत्तर में उग्रवाद: लेखकीय दायित्व'। लक्ष्मी जी का यह कहना एकदम सही है कि समाज को दिशा और गति देनेवाले लेखकों को इस ओर ध्यान देना चाहिए। "हिन्दी की भूमिका मात्र हिन्दी क्षेत्र तक सीमित नहीं है। उसका सरोकार राष्ट्रव्यापी है, इसलिए हिन्दी के लेखकों को पूरे देश की समस्याओं को ध्यान में रखकर लिखना चाहिए।" (पृष्ठ 105) मुझे 'शरणदाता' (अज्ञेय) कहानी की पंक्तियाँ याद आ रही हैं: "खतरा बुरे की ताकत के कारण नहीं है। भले की साहसही में बड़ी बुराई है। बादल के रहने से रात नहीं होती, सूरज के निस्तेज होने से होती हैं। काश, अपनी हिम्मत को हम जगा पाते। शब्द-तीर से कितने शिकार होंगे। प्रो. तिवारी गुवाहाटी वि. वि. के हिन्दी के अध्यक्ष रहे हैं। असमिया पर उनका अधिकार है। 'शंकर देव के नाटक और रंगमंचीयता' पर उनका उत्तम लेख है। विचार, सिद्धान्त प्रयोग, विनियोग, स्थापना सभी दृष्टियों से मैं उनके पांडित्य का कायल हूँ। ऐसे लेख नाटकके वैश्वानरों को दिशा-दर्शन देंगे। आपके द्वारा संपादित सभी लेख विचारणीय व मानक हैं। बधाई देकर इसे हल्का करना नहीं चाहता।

**मृत्युंजय उपाध्याय, प्रोफेसर एवं पूर्व हिन्दी-विभागाध्यक्ष, बिनोबाभावे
विश्वविद्यालय, हजारीबाग एवं संपादक: संबुद्ध (मासिक), धनवादा।**

'चिन्तन-सृजन' का जनवरी-मार्च 2006 का अंक मुझे आज ही डाक द्वारा मिला।

'सोने' व 'सेनसेक्स' के उछाल को देख कर उतना हतप्रभ नहीं हूँ जितना कि 'प्राप्ति स्वीकार: पुस्तकें' में उल्लिखित पुस्तकों के मूल्य को देख कर। लगता है गिरह गाँठ के सत्ता गलियारों में इन पुस्तकों की अच्छी खपत होती होगी। जन साधारण को तो इन्हें खरीदने के लिए अपने परिवार का पेट काटना पड़ेगा। पूरा तो तोभी नहीं पड़ेगा। लगता है साहित्यकारों में साहूकार बनने की प्रवृत्ति बलवती होती जा रही है। 'संपादकीय परिप्रेक्ष्य' दो तीन बार पढ़ लिया है। अनुशासनहीनता की मूल्य-क्षरण संजीवनी के सहारे ही भारतीय राजनीति चलाने वाले लोग सन् 1947 से ही गरीब को

भुना 650 देशी रियासतों को गणतंत्र का अंग बना, क्या खुद 'भुजंग राजे रजवाई' नहीं बन गये हैं? जहाँ बाहुबली राजनीति के सहारे बहुसंख्यक गरीबजनता का वोट पड़ता हो वहाँ 'शांतिपूर्ण मतों के प्रयोग' की बात गले नहीं उतरती...कोई आश्चर्य न होगा यदि बाहुबलियों के हितार्थ संविधान में एक संशोधन और हो जाय। सत्ता-दोहन का सार्टिफिकेट हमारे 'ब्यूरोक्रेट' भाइयों के लिये तो सुरक्षित है ही न।

कृष्ण चन्द्र पन्त, हरि निवास, सुखताल, नैनीताल।

'चिन्तन-सृजन' का जन-मार्च 06 अंक मिला।...यह आपका सम्पादकीय कौशल ही है, जिसने अल्प समय में ही पत्रिका को जरूरी पठनीय पत्रिकाओं की सूची में शामिल कर दिया है।...समूची सामग्री चयन बहुत विवेक व सावधानी के साथ किया गया है।

रामस्वरूप दीक्षित, सिद्धबाबा कालोनी, टीकमगढ़ (म. प्र.)

'चिन्तन-सृजन' त्रैमासिक का जुलाई-सितम्बर अंक पठनीय और संग्रहणीय है। समीक्षा और भाषा चिन्तन पर केन्द्रित इतनी गम्भीर एवं शोधपूर्ण पत्रिका का अभाव है। इस अंक में पूर्वांचल की भाषाओं पर डॉ. राजमल बोरा का आलेख सूचनात्मक एवं महत्वपूर्ण है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने अपने निबन्ध में विभिन्न 'नगा' भाषाओं को 'नाग' भाषाओं के रूप में व्याख्या दी है। वस्तुतः इन्हें नगा भाषा के नाम से ही पहचाना-पुकारा जा सकता है। इस आधारभूत भ्रम के अलावा सम्पूर्ण निबन्ध सुचिंतित है।

*अभिषेक अवतंस, शोधछात्र, भाषाविज्ञान विभाग,
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।*

(लेख में नाग भाषाओं के अन्तर्गत मात्र नागाओं की भाषाएँ ही नहीं, बल्कि समस्त भारत-मंगोल भाषाएँ आ जाती हैं सम्पादक।)